कवि कर्णपूर कृत [illegible]द्रोदयम्

का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ फिल्॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

शोधकर्त्री

संगीता श्रीवास्तव एम॰ए॰

निर्देशिका

डा॰ श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

रीडर

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

1 जनवरी सन् 1991

प्राक्कथन

भगवती सरस्वती के कृपाप्रसाद से कृतकृत्य, श्री पितृ चरणों में समर्पित महाप्रभु चैतन्य के जीवन पर आधारित यह शोधप्रबन्ध संस्कृत गीर्वाणभारती के वरद-पुत्र अनन्य सेवक कविवर कर्णपूर कृत नाट्य विशेष चैतन्यचन्द्रोदय के आलोचनात्मक मूल्याङ्कन का एक लघु प्रयासमात्र है । संस्कृत वाङ्मय की अनेक विधाओं में सर्वाधिक रमणीय, मनोरम एवं सुधीजनों के हृदय को आनन्दपूरित करने वाली विधा के रूप में नाटकों की महती ख्याति है । नाटकों के प्रति विद्वज्जनों के इस अनुराग को देखकर नाट्य साहित्य के विशेष अध्ययन की उत्कण्ठा मेरे मन में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुयी और मैनें अपनें शोध-प्रबन्ध का आधार एक नाटक चुना । मैंने अपनें स्नातकोत्तर काल तक के अध्ययन काल में अनेक नाटकों का अध्ययन किया है और उनकी रसाभि-व्यक्ति से अभिभूत हुयी । इसी अध्ययन काल में संस्कृत नाटकों में जो एक विशेष बात दृष्टिगोचर हुयी, वह है 'प्रतीकात्मकता' । अर्थात् इसमें अनेक अमूर्त तत्वों को मूर्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्रकृति के विभिन्न निर्जीव पदार्थों यथा-वृक्ष, नदी, पर्वत आदि का मानवीकरण करके उनको जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । यही गुण संस्कृत साहित्य को विश्व वाङ्मय में एक विशेष स्थान प्रदान करता है । धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य आदि अमूर्त तत्त्व जब स्वयं उपस्थित होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं तो पाठकगण या श्रोतागण विस्मयविमुग्ध होकर नाट्य रस का पान करता है । सौभाग्य से मेरे शोधप्रबन्ध का विषय भी एक प्रतीक नाटक है । जिसमें कविवर कर्णपूर ने अनेक अमूर्त पात्रों को जीवन्त किया है ।

चैतन्यचन्द्रोदय की दूसरी प्रमुख विशेषता नाटक के नायक चैतन्य-महाप्रभु स्वयं हैं । 18 फरवरी सन् 1486 ई0 को इनका जन्म बंगाल में हुआ था । पच्चीस वर्ष की आयु में जब इन्होंनें संन्यास धारण किया तब वे ज्ञान एवं दर्शन सम्बन्धी विषयों में पारंगत हो गये थे । तदनन्तर इन्होंनें उत्तर एवं दक्षिण के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण करके अपनें सिद्धान्त कृष्णप्रेम एवं भक्ति का सर्वत्र उपदेश दिया । इस प्रकार सोलहवीं

शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया । इन्होंने जातिप्रथा, कर्मकाण्ड, पशुबलि, मांसाहार, मद्यपान, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि कुरीतियों एवं पाखण्डों का घोर विरोध किया तथा प्रेम करूणा, भ्रातृत्व एवं कृष्णभक्ति को धर्म का आधार बताया । इन्होंने जीव को राधास्वरूप माना । इन्होंने संकीर्तन प्रथा का प्रारम्भ किया गोंसाई संघ की स्थापना की । इनका दार्शनिक सिद्धान्त "अचिन्त्य भेदाभेदवाद" के नाम से प्रसिद्ध है । इनकी मृत्यु पुरी में 1533 में हुयी । महाप्रभु चैतन्य के अलौकिक व्यक्तित्व से मैं पहले से प्रभावित थी, इसलिये इनके जीवन पर आधारित ग्रन्थ पर शोध-कार्य करने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुयी ।

यह शोध-प्रबन्ध मेरे परम पूज्य पिताजी श्री सुरेन्द्र प्रताप श्रीवास्तव की आकांक्षा, प्रोत्साहन एवं सहयोग का प्रतिफल है । मुझे डी0फिल0 की उपाधि से विभूषित देखना उनके जीवनलक्ष्यों में से एक है । अतः यह शोध-प्रबन्ध पूरा करना मेरा उनके प्रति सबसे बड़ा दायित्व था । उन्होंने न केवल मेरे मार्ग में आने वाली बाधाओं को बड़ी कुशलता से दूर किया बल्कि कदम-कदम पर अपने स्नेह एवं वात्सल्य से अनुप्रेरित भी किया है । इसीलिये मैंने अपना यह शोधप्रबन्ध पितृ-चरणों में समर्पित किया है ।

मेरे इस शोध-कार्य में त्रुटि-संशोधन, मार्ग-निर्देशन एवं प्रबन्धीय कठिनाइयों को दूर करने का गुरूतर कार्य मेरी परमादरणीया निर्देशिका डॉ0 ज्ञान देवी श्रीवास्तव ने किया है । मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर मेरे इस शोधप्रबन्ध की समस्त जटिलताओं को समाप्त किया और उसको लक्ष्य के करीब पहुँचा दिया । इन्हीं के गतिशील निर्देशन एवं संचालन से मेरा यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्णकाम भी हुआ है । परम श्रद्धेय, पूजनीय, विद्वत्वरेण्य, पितृतुल्य, स्नेही गुरूवर्य संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो0 डॉ0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव की अनुकम्पा एवं आशीर्वाद से मेरा यह शोधप्रबन्ध आपके सम्मुख उपस्थित होने में समर्थ हुआ है । आपनें अपने ज्ञान के अप्रतिम प्रकाश से मेरे मन को आलोकित किया है जिससे मैं इस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने में समर्थ हुयी हूँ । उनके प्रति मेरा मस्तक श्रद्धावनत है, हृदय कृतज्ञ है । पितृतुल्य स्नेही गुरूदेव के स्नेह एवं आशीर्वाद की आकांक्षा मुझे आजीवन रहेगी । मातृ-सदृश वात्सल्य

मयी डॉ० श्रीवास्तव की धर्मपत्नी श्रीमती दयावती श्रीवास्तव ने मुझे सदैव अपने स्नेह से सिञ्चित किया, इनके आशीर्वादों की छत्रछाया नें मुझे किसी भी प्रकार के आतप से सुरक्षित रखा, जिससे मेरी गति एवं प्रगति सदैव अक्षुण्ण रही । इसके साथ ही इन्होंने निराशा के क्षणों में अपने तेज से मेरे अन्दर आशा एवं विश्वास की ज्योति जलायी । मैं आपकी सर्वदा ऋणी रहूँगी ।

मेरे आदरणीय चाचा डॉ० बीरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव रीडर इतिहास विभाग सागर ने मुझे 16 वीं शताब्दी के बंगाल के विषय में विशद् जानकारी दी तथा मेरे विषय से सम्बन्धित अनेक गूढ़ प्रश्नों का बड़ी सरलता से निदान किया । पग-पग पर मेरा मार्ग निर्देशन करके मेरे उत्साह को बनाये रखा । मैं आपके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ । चैतन्यचन्द्रोदय के कथानक की पृष्ठभूमि चूँकि बंगाल की थी, इसलिये मेरे समक्ष प्रायः बंगभाषा सम्बन्धी कठिनाइयाँ आयीं । इन कठिनाइयों को मैंने बंगभाषा विद् आदरणीय डॉ० जेमिनीमोहन बनर्जी की सहायता से दूर किया । आपनें अपना अमूल्य समय देकर मेरे शोध-मार्ग को सुगम बनाया । आपके इस सद्भाव एवं सहयोग के लिये मैं आभार प्रकट करती हूँ ।

मेरे इस शोधकार्य में अन्य जिन गुरूजनों ने सहयोग एवं प्रेरणा दी उनमें डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव तथा डॉ० राम किशोर शास्त्री प्रमुख हैं । आपने समय-समय पर बहुमूल्य समय देकर मुझे गौरवान्वित किया है । आप लोगों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ । मेरे शोधकार्य में मेरी प्रियमित्रों सुनीता थत्ते एवं रश्मि पन्त तथा अनुज संजय श्रीवास्तव, अनुजा बबिता श्रीवास्तव एवं योगिता श्रीवास्तव आदि नें महत्व पूर्ण सहयोग दिया है । इसके अलावा मुझे श्री यशवर्धन श्रीवास्तव, डॉ० संजय श्रीवास्तव राजीव प्रकाश शुक्ल, डॉ० बल बहादुर त्रिपाठी एवं वरिष्ठ बन्धु दिनेशमिश्र से भी सहयोग प्राप्त हुआ । इन सभी लोगों के प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ ।

मेरे इस शोधप्रबन्ध के विभिन्न चरणों के विकास में अनेक पुस्तकालयों एवं पुस्तकालयाध्यक्षों का सराहनीय योगदान रहा है । उसमें विशेष रूप से उल्लेखनीय पुस्तकालयों में इलाहाबाद विश्व विद्यालय में स्थित पुस्तकालय, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय

विद्यापीठ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी, भण्डारकर ओरियन्टल रिर्सच इन्सटीट्यूट, पूना (महाराष्ट्र) जवाहर लाल नेहरू पुस्तकालय, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर आदि में अध्ययन कार्य करके ही मैं अपनें इस लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हुयी हूँ। मेरी इस लक्ष्य प्राप्ति में मेरी आदरणीय माताश्री नें भी मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिनकी मैं अत्यधिक ऋणी हूँ।

शोधकार्य की पूर्णता अर्थसापेक्ष होती है एतदर्थ सौभाग्य से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 'अनुसन्धान वृत्ति' प्राप्त हुयी, जिससे इस शोधकार्य का कलेवर सज्जित हो सका है। मेरे इस शोधप्रबन्ध की स्वच्छता, सुन्दरता एवं शुद्धता का सम्पूर्ण श्रेय - प्रदीप कुमार श्रीवास्तव को है, जिन्होनें बड़ी लगन से मेरे शोधकार्य को ग्रन्थरूप प्रदान किया है। अन्त में उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिनका मैंने अज्ञानवश अथवा विस्मय के कारण यहाँ उल्लेख नहीं किया है। इन सभी लोगों की शुभकामना एवं शुभाकांक्षाओं के परिणामस्वरूप यह शोधप्रबन्ध आपके समक्ष प्रस्तुत है-

संगीता श्रीवास्तव

संगीता श्रीवास्तव

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1 - जनवरी

1991

विषयानुक्रमणिका

प्रथम--अध्याय

द्वितीय-अध्याय

कथानक तथा कथानक का औचित्य

तृतीय-अध्याय

चतुर्थ--अध्याय

पंचम-अध्याय

षष्ठ-अध्याय

सप्तम-अध्याय

अष्टम-अध्याय

परिशिष्ट

प्रथम-अध्याय

प्रथम-अध्याय

प्रास्ताविक

कवि परिचय-

§क§ संस्कृत वाड्.मय में कर्णपूर नामक कवि एवं विद्वान् §ख§ काल §ग§ जाति §घ§ वंश परिचय तथा संक्षिप्त जीवन §ड.§ कवि कर्णपूर के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनायें §च§ शिक्षा §छ§ व्यक्तित्व §ज§ चैतन्य साहित्य में कवि कर्णपूर का स्थान §झ§ कवि कर्णपूर की कृतियाँ-कृतियों के प्रतिपाद्य §द§ शोध-प्रबन्ध का विषय "चैतन्य-चन्द्रोदयनाटकम्" की प्रतीकात्मकता ।

कवि-परिचय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय कवि कर्णपूर कृत "चैतन्यचन्द्रोदय नाटकम्" है । कवि की प्रतिभा हमें उसकी कृति में ही देखने को मिलती है । क्योंकि कोई भी कृति कवि के व्यक्तित्व से अवश्य प्रभावित होती है । इसलिये अपने नाटक के सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व, उसकी विलक्षणता को दर्शाने के लिये कवि का परिचय देना अपरिहार्य हो जाता है । इस दृष्टि से सर्वप्रथम कवि कर्णपूर का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है--

संस्कृत वाङ्मय में कर्णपूर नामक कवि और विद्वान्-

अनादिकाल से परिवर्तनशील इस संसार में, यद्यपि बहुत से काव्य, नाटक, चम्पू आदि ग्रन्थ हैं । उनका पठन-पाठन भी अधिक मात्रा में प्रचलित है, जिनसे विद्वद्गण पूर्णानन्द की प्राप्ति करते रहे हैं । तथा अनेक कवि और विद्वान् काव्य नाट्य की इस परम्परा के अक्षयकोश को पूर्ण करते रहे है । ग्रन्थों की इस परम्परा में कर्णपूर नामधारी कतिपय विद्वानों की भी श्रृङ्खला संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर होती है । 16वीं शताब्दी ई. में "संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः के रचयिता, मुगल सम्राट जहाँगीर के सभासद, कामरूपवासी कवि कर्णपूर नामक विद्वान का उल्लेख मिलता है।[1] 16वीं शताब्दी ई० में अवस्थित "वृत्तमाला" के प्रणेता के रूप में द्वितीय कवि कर्णपूर का परिचय प्राप्त होता है, जो प्राचीन कामरूप के अन्तर्गत कोछ विहार राज्य के

1-(I) श्रीमज्जहांगीरमहीमहेन्द्रप्रासादमासाद्य निदेशरूपम् ।
करोत्यदः संस्कृतपारसीकपदप्रकाशं कवि कर्णपूरः ।। पृ० 2.

(II) कर्णपूरः कामरूपवासी करणवंशजः ।
कारिकां कुरुते भाषासात्सग्रहकारिकाम् ।। पृ० 328

संस्कृतपारसीकपद-प्रकाशः काशी गोरक्षा ग्रन्थमाला द्वारा मुद्रित.

शासक श्रीमल्लदेव नृपति के सभापण्डित थे[1]। तृतीय कर्णपूर नाम की संज्ञा वहन करने वाले कवि कर्णपूर का परिचय "पारिजातहरणम्" महाकाव्य के सम्पादक महोदय ने ग्रन्थ की भूमिका में दिया है[2]। उनके अनुसार पूर्वोक्त कवि कर्णपूर बङ्गाल के वर्धमान जिला के "खण्डघोष" नामक ग्राम के निवासी थे। इन्होंने जयदेव विरचित गीत-गोविन्द का बंगला में अनुवाद किया था। चतुर्थ कर्णपूर नामक कवि का परिचय विशारद के पुत्र तथा कविचन्द्र के पिता के रूप में "चिकित्सारत्नावली" नामक ग्रन्थ में मिलता है[3]। पञ्चम "वर्णप्रकाश" ग्रन्थ के प्रणेता कवि कर्णपूर थे। प्राप्य हस्तलिपि के अनुसार कवि कर्णपूर ने "वर्णप्रकाश" नामक ग्रन्थ की रचना त्रिपुरा के राजा अमरमाणिक्य के पुत्र राजधर के लिये की थी[4]। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री ने उपर्युक्त कवि कर्णपूर का उल्लेख किया है[5]। कवि कर्णपूर नाम षष्ठ व्यक्ति

1- कविना कर्णपूरेण गरूसन्मलकर्म्मणा ।
मल्लदेवे महीपाले वृत्तमालेयमारचि ।।

वृत्तमाला कामरूपसंस्कृतसंजीवनी सभा द्वारा प्रकाशित, 1854शकाब्द

2- कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् (प्रस्तावना) पृ. 11.

3- आसीद्वैद्यविशारदः सुरधुनीतीरे सुधीरे परे
श्रीमद्दन्तकुलाब्जभास्करो गाम्भीर्यधैर्याकरः
हिण्डीरस्फुटपुण्डरीकपटलीकर्पूरपूरस्फुरत्
कीर्तिः काव्यविचारचारूचतुरो विद्याविनोदाह्वयः ।।
तत्सूनुः कविकर्णपूरसुकृतीनानागुणालङ्कृती
तज्जातः कविचन्द्र एष सुधियो वैद्यानिंद याचते ।। चिकित्सा रत्नावलि, पृ.-8

ओरियन्टल लाइब्रेरी ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल.

4- पुरन्दर पुरीवान्या धन्यास्ति त्रिपुरी पुरी
सोमसन्तानसम्भूतः पुरूहूत इवापरः
तस्या अमरमाणिक्यनामाभून्नृपनायकः ।।
हिते रतः समस्तानां भूतानां भूतिभूषितः
तस्य राजधरो नामसूनः स्याणुरिवाजनि
शब्दाशास्त्रातिशरेण कर्णपूरेण सूरिणा
अयं तस्यानुबन्धेन निबन्धः क्रियतेमया ।।वर्णप्रकाश, पृ0-56

5- Descriptive Catalogue of Sanskirt ! Oriental Library of Asiatic Society of Bengal Vol. VI

का परिचय "प्रेमविलास" नामक ग्रन्थ में आचार्य श्रीनिवास के शिष्य के रूप में मिलता है[1]। इनका उल्लेख 8 प्रसिद्ध कविराजों में किया गया है--

श्रीरामचन्द्रगोविन्दकर्णपूरनृसिंहकाः भगवान् वल्लीदासो ।
गोपीरमणोंगोकुलो कविराजा इमे ख्याता जयन्त्यष्टौ महीतले[2] ।।

इस प्रकार कवि कर्णपूर नामक अनेक कवियों के विद्यमान होने पर समस्या प्रस्तुत होती है कि कवि कर्णपूर नामक ये अनेक विद्वान् परस्पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति है अथवा एक ही है? परमानन्ददास कवि कर्णपूर से उनका कोई ऐक्य है अथवा नहीं?

चैतन्यचन्द्रोदयम् के रचयिता परमानन्ददास कवि कर्णपूर कृष्णचैतन्य के अनन्य भक्त एवं परम वैष्णव थे। किसी राजा के सभापण्डित होने का उल्लेख उनके सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होता है। कवि कर्णपूर के गृहस्थ होने का भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। अतः "पारिजातहरणम्" की भूमिका में उल्लिखित तथा "चिकित्सारत्नावली" नामक ग्रन्थ में वर्णित कवि कर्णपूर "खण्डघोष" नामक ग्राम के निवासी होने के कारण, चैतन्यभक्त न होने के कारण तथा शिवानन्दसेन के पुत्र न होने के कारण और गृहस्थ होने के कारण परमानन्ददास कवि कर्णपूर से भिन्न व्यक्ति हैं। "संस्कृतपारसीकपदप्रकाश," "वृत्तमाला" एवं "वर्णप्रकाश" के रचयिता राज्याश्रित होने के कारण स्वतः ही भिन्न हैं। "पण्डितसीरीज काशी" से प्रकाशित "आनन्दवृन्दावनचम्पू" के सम्पादक श्री बेचन राम त्रिपाठी महोदय ने परमानन्ददास कवि कर्णपूर का ऐक्य पूर्वोक्त जहाँगीर के सभासद सं०पा०प०प्र० के प्रणेता कवि कर्णपूर के साथ किया है[3]।

1- प्रेमविलास-नित्यानन्ददास, पृ. - 276

2- वही. पृ. -300

3- आनन्दवृन्दावननामचम्पूः श्रीकर्णपूरेणविनिर्मितेषा ।
श्रीमत्जहाँगीरमहीमहेन्द्रसभाप्रधानेन महामहिम्ना ।।

कवि कर्णपूर, आनन्द वृन्दावन चम्पू पं० न्यू सीरीज, भाग-7पृ. -18

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि दोनों में केवल नाम की समानता है । संस्कृतपारसीकपदप्रकाश के रचयिता कर्णपूर कामरूपवासी, करणवंशज एवं कवीन्द्र कविराज गुणाब्धि के अनुज है । यह शैवमतावलम्बी है[1]। जबकि परमानन्ददास कवि कर्णपूर काञ्चनपल्ली निवासी, अम्बष्ठ कुल उत्पन्न, एवं चैतन्यदास तथा रामदास इनके अनुज थे[2]। अतः उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर एवं कामरूपवासी कवि कर्णपूर मे कोई ऐक्य स्थापित नहीं किया जा सकता है । वे दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति है ।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त उल्लिखित छठवें कवि कर्णपूर के साथ परमानन्द-दास कवि कर्णपूर का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है । आचार्य श्रीवास श्रीवासाचार्य है[3]। जो चैतन्य के अनन्य अनुयायी एवं विद्वान् थे । चैतन्य के समस्त शिष्य श्रीवास को गुरूतुल्य मानते थे । अतः सम्भव है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर ने भी कभी कुछ समय के लिये उनसे शिक्षा ग्रहण की हो । इसके अतिरिक्त "प्रेमविलास" में उल्लिखित सभी कविराज चैतन्य प्रभु के अनुयायी है तथा इनका उल्लेख कवि कर्णपूर कृत् "चैतन्यचरितामृतम्" "चैतन्यचन्द्रोदयम्" एवं "गौरगणोद्देशदीपिका" में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है । अतः बहुत सम्भव है कि श्रीनिवासाचार्य के शिष्य कवि कर्णपूर ही परमानन्ददास कवि कर्णपूर हैं ।

---

1. सं० पा० प० प्र०- पृ० 1.

2. (i) Chaitanya and his Companion - D.C. Sen, 117

चैतन्यभागवत वृन्दावनदास, 3/5/18. 3/9/61.

(ii) समस्त विवरण शोध प्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय- पृ. 10-11.

3. Chaitanya and his Companion, D.C. Sen, 47

काल-

कवि कर्णपूर का जन्म-स्थान "काञ्चनपल्ली" है [1]। {"काञ्चनपल्ली" पूर्व समय में बंगाल के विख्यात ग्राम "कुमारहट्ट" की एक विशिष्ट पल्ली और बंगाल के 24 परगनों में से "हालिसहर" परगना के अधीन थी।} कवि कर्णपूर चैतन्य-प्रभु के समकालिक थे जिसके कारण इनके काल निर्धारण का कार्य भी सुकर हो जाता है। इस सम्बन्ध में कर्णपूर की कृतियों से प्राप्त होने वाले साहित्यिक प्रमाण तथा अन्य बाह्य प्रमाण भी हमारा पर्याप्त तथा प्रामाणिक दिशा निर्देश करते हैं।

अन्तः साक्ष्य-

कवि कर्णपूर ने अपनी कृति "चैतन्यचरितामृतम्" में स्वयं को शिशु कहा है [2]। शब्दकोषानुसार शैशवावस्था जन्म से लेकर षोडष वर्ष पर्यन्त मानी जाती है। चैतन्यचरितामृतम् का रचनाकाल कवि कर्णपूर के अनुसार 1542 ई0 है [3]। इस प्रकार कवि कर्णपूर का जन्म काल 1526 ई0 प्रमाणित होता है।

1-{I} गौरपदतरंगिणी, जगदबन्धु भद्र {सम्पादक}, प्रथम संस्करण, पृ0-51. 181.

{II} The early history of the Vaishnava faith movement in Bengal, Dr.S.K.Dey, p.32

{III} Vaishanav Literature of Medieval Bengal. D.C.Sen, p.71

{IV} History of Classical Sanskrit Literature, Krishnamachari

2. आशैशवं प्रभुचरितविलासविज्ञैः
केश्चिन्मुरारिरिति मङ्गलनामधेयैः ।
यद्यद्विलासललितं समलेखि तज्ज्ञै-
स्तत्तद्विलोक्य विलिलेख"शिशुः"स एष ।। चैतन्यचरितामृतम्, 20/42

3. वेदारसाः श्रुतय इन्दुरिति प्रसिद्धे
शाके तथा खलु शुचौ सुभगे च मासि ।
वारे सुधाकिरणनाम्न्यथितद्वितीया-
तिथ्यन्तरे परिसमाप्तिरभूदमुष्य ।। वही. 20/49.

द्वितीय कृति "चैतन्यचन्द्रोदयम्" के रचनाकाल के आधार पर भी कवि कर्णपूर का समय 1517 ई० से आगे निश्चित होता है क्योंकि कर्णपूर के ही अनुसार चैतन्यचन्द्रोदय नाटक 1494 शाके अर्थात् 1572 ई० या 1579 ई०[1] में लिखा गया था । यह भी प्रसिद्ध है कि यह ग्रन्थ कवि कर्णपूर ने अपनी 55 वर्ष की अवस्था में लिखा था । इसके आधार पर कर्णपूर का जन्मकाल 1517 ई० से आगे अभ्रान्त रूप से माना जा सकता है ।[2]

"चैतन्यचरितामृतम्" की प्राप्त हस्तलिपि[3] (सं० 2389) में उसके लिपिकार विष्णुदास (स्वयं को रूपगोस्वामी का सेवक कहकर परिचय दिया है) ने उल्लिखित किया है- "चैतन्यचन्द्रचरितामृतम् अद्भुताभिर्द्यष्टाब्दि-कैर्विरचितम् कविकर्णपूरै"[4]। इसके अनुसार इस ग्रन्थ के निर्माण के समय कवि कर्णपूर की अवस्था 16 वर्ष की थी ।

बाह्य साक्ष्य-

कृष्णदास कविराज ने अपनी कृति "चैतन्यचरितामृतम्" में नीलाचल में चैतन्य प्रभु तथा कर्णपूर के मिलन का वर्णन किया है । चैतन्य प्रभु से साक्षात्कार के समय कवि कर्णपूर की अवस्था मात्र सात वर्ष की थी[5] । इस घटना के अनन्तर कविराज ने चैतन्य प्रभु के जीवन के शेष दो वर्षों का भी वर्णन किया है । ऐतिहासिक

---

1. (i) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- S.K.Dey -238.
   (ii) तस्मिंश्चतुर्नवतिभाजि तदीयभक्त्या
   ग्रन्थोऽयमाविरभवत कतमस्य वक्त्रात् ।। 10/4 चैतन्य चन्द्रोदयम्-पृ०-395.
2. चैतन्य चन्द्रोदयम्- भूमिका पृ०-15.
3. ढाका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त चैतन्यचरितामृतम् की हस्तलिपि
4. इस हस्तलिपि का संकेत डॉ० दे नें अपने ग्रन्थ The early history of the Vaishanav faith & movement in Bengal. 33 में दियाहै ।
5. चैतन्य चरितामृतम् - कृष्णदास कविराज, 3/16/68-69. अन्त्य लीला ।

साक्ष्यों के अनुसार चैतन्य का निर्वाण काल 1533 ई0 है[1]। इस प्रकार उपर्युक्त विवरणानुसार कवि कर्णपूर ने चैतन्य महाप्रभु से 1531 ई0 के लगभग साक्षात्कार किया होगा। अतः उनके निर्वाण के समय वह लगभग 9 वर्ष के रहे होंगें। अतएव उनका जन्मकाल 1524 ई0 के आसपास निश्चित होता है। राजेन्द्र लाल मित्रा महोदय के अनुसार भी कवि कर्णपूर चैतन्य की निर्वाण यात्रा के समय 9 वर्ष के थे।[2]

टीकाकार श्री वृन्दावन चक्रवर्ती के अनुसार कवि कर्णपूर ने 5 वर्ष की अवस्था में चैतन्य के दर्शन किये थे[3]। इस प्रकार चैतन्य के निर्वाण के समय कवि कर्णपूर की अवस्था 7 वर्ष रही होगी। इसके आधार पर उनका जन्मकाल 1526 ई0 के लगभग सिद्ध होता है।

यदि किञ्चित क्षणों के लिये कवि कर्णपूर का जन्मकाल 1526 ई0 स्वीकार कर लिया जाये तो ऐसी स्थिति में कवि कर्णपूर द्वारा स्वयं को शिशु कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। इस तिथि को प्रामाणिक मान लेने पर कृष्णदास कविराज का यह कथन-"कवि कर्णपूर ने सात वर्ष की अवस्था में चैतन्यप्रभु का साक्षात्कार किया था" स्वतः खण्डित हो जाता है, क्योंकि 1533 ई0 में चैतन्य प्रभु निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। ऐसी स्थिति में 1533 ई0 में कर्णपूर के लिये उनसे साक्षात्कार कैसे संभव हो सकता था? इस घटना को कल्पित भी नहीं माना जा सकता है। कवि कर्णपूर चैतन्य महाप्रभु से मिले अवश्य थे, यह घटना ऐतिहासिक सत्य है।

---

1. (I) The early history of the Vaishanav faith & movement in Bengal - S.K.Dey, p.76

   (II) Chaitanya and his age - D.C.Sen, p.259.

2. चैतन्यचन्द्रोदयम्-राजेन्द्रलाल मित्रा, भूमिका पृ.- 6.

3. आनन्दवृन्दावनचम्पू-कवि.कर्णपूर, सुखवर्तिनी टीका (पं. ओल्ड सीरीज भाग-9) पृ.-108.

इसका उल्लेख कवि कर्णपूर ने भी किया है[1]। यदि कृष्णदास कविराज के वक्तव्य को सत्य मान लिया जाये तो कर्णपूर द्वारा स्वयं को शिशु कहना असङ्गत प्रतीत होता है । किन्तु गंभीरता पूर्वक विचार करने पर ध्वनित होता है कि कर्णपूर द्वारा स्वयं को शिशु कहने का तात्पर्य उनकी विनम्रता तथा शिशु सुलभ अपरिपक्वता से है । संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर कवियों ने अपनी कृतियों की प्रशस्ति में स्वयं ही गर्वोक्तियाँ की हैं वहीं दूसरी ओर कालिदास प्रभृति कुछ महाकवियों नें अपने को अल्पज्ञ आदि कहकर विनम्रता का प्रकाशन किया है । कवि कर्णपूर द्वारा भी स्वयं शिशु कहना उनके हृदय की विशालता तथा विनम्रता का ही द्योतक है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में कवि ने अपने लिये बाले शब्द का प्रयोग किया है ।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कवि कर्णपूर का समय (जन्मकाल) 1524 ई0 अथवा 1526 ई0 के आसपास निश्चित होता है ।

जाति-

कवि कर्णपूर अम्बष्ठ कुल में उत्पन्न सेन वंश के प्रदीप चैतन्यमतावलम्बी शिवानन्दसेन के पुत्र थे[3]। तथा बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव थे ।

---

1. श्री चैतन्यकथा यथामति यथादृष्टं यथाकर्णितं
 जग्रन्थे कियती तदीयकृपया बालेन येयं मया ।
 एतां तत्प्रियमण्डले शिव शिव स्मृत्येकशेषां गते
 को जानातु श्रृणोतु कस्तपनया कृष्णः स्वयं प्रीयताम् ।।
 चैतन्य चन्द्रोदयम्-पृ. - 395.
2. --------------------बालेन येयं मया । वही. पृ. -395.
3. कृष्णाह्निककौमुदी, कर्णपूर, कौतूहल-6 (अंतिम पद्य)

वंश परिचय तथा संक्षिप्त जीवन-

कवि कर्णपूर चैतन्य महाप्रभु के ज्येष्ठ शिष्य शिवानन्दसेन के पुत्र थे। इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न प्रमाणों से हो जाती है। कर्णपूर ने प्रायः अपनी समस्त कृतियों में शिवानन्दसेन का उल्लेख अपने पिता के रूप में किया है।[1] इसके अतिरिक्त प्राप्य तत्कालीन गौड़ीयवैष्णव साहित्य में भी कवि कर्णपूर के

---

1. (क) श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितं परमानन्ददासकविना विनाशितहृत्कषायतिमिरं श्रीचैतन्यचन्द्रोदयं नाम नाटकम्।

कवि कर्णपूर चैतन्य चन्द्रोदयम्, पृ. -3.

(ख) इह परमकृपालोगौरचन्द्रस्य कोऽपि प्रणयरसशरीरः श्रीशिवानन्दसेनः।
भवि निवसति तस्यापत्यमेकं कनीयस्त्वकृतपरमौग्ध्याच्चित्रमेतं प्रबन्धम्॥

चैतन्य चरितामृतम्, 20/46.

(ग) श्रीगौराङ्ग कृपायमयोऽवनितले श्रीमच्छिवानन्दकः।
सेनोऽम्बुष्ठकुलोद्भवः सुकृतिभिः सार्द्धं सदा गौरदृक्॥
तत्पुत्रः कविकर्णपूररसिकाचार्याग्रणीर्नीतितः।
श्रीकृष्णाह्निककौमुदीति विदितं काव्यं सुकाव्यं व्यधात्॥

कृष्णाहिनक् कौमुदी, कौतूहल-6-अन्तिम श्लोक

(घ) चैतन्यकृष्णकरूणोदितवाग्विभूति-
स्तन्मात्रजीवनधनस्य जनस्य पुत्रः।

----------रचितवान् कविकर्णपूरः॥

आनन्द वृन्दावन चम्पू (पण्डित न्यू सीरीज, भाग-3, 22/61.

पिता के रूप में उनका उल्लेख मिलता है [1]। समस्त आधुनिक विद्वान् भी इस विषय में एक मत है कि कवि कर्णपूर शिवानन्दसेन के ही आत्मज हैं [2]। शिवानन्दसेन ने अम्बुष्ठ कुल को अलंकृत किया था । चैतन्य के प्रिय पार्षदों के मध्य उनका विशिष्ट स्थान था, जिसका उल्लेख चैतन्य के समस्त चरितलेखकों ने किया है [3]।

शिवानन्दसेन का व्यक्तित्वचैतन्यसम्प्रदाय में शिष्ट एवं विनम्र भक्त के रूप में विख्यात है । चैतन्य के प्रिय पार्षदो में शिवानन्दसेन का विशिष्ट स्थान था [4]। महाप्रभु चैतन्यशिवानन्दसेन के परिवार को अपनें परिवार के रूप में परिगणित

1-§क§ मुरारिगुप्त-श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्- 4/17/6.

§ख§ कृष्णदास कविराज-चैतन्यचरितामृतम्- 1/10/60, 9/19/102.

§ग§ लालदास-बंगाली भक्तमाल- पृ. - 44-47.

§घ§ प्रेमदास-चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी- पृ. -486.

§ड.§ वैष्णवाचारदर्पण- पृ. - 345.

2-§A§ The early history of the Vaishanav faith and movement in Bengal - S.K.Dey, p.32

§B§ Chaitanya and his companion - D.C.Sen, p. 119

§C§ Vaishanav Literature of Medieval Bengal-D.C.Sen, p.11

§D§ History of Sanskrit Literature - Gupta & De, p.485

§E§ History of Classical Sanskrit Literature-Krishnamachari,

§F§ Chaitanya Chandrodayam (Introd.) - R.L.Mitra Bibliotheca Indica, 1854, p.6

3- श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्- मुररिगुप्त- 4/17/6.
चैतन्यभागवत-वृन्दावनदास- 3/5/18, 3/9/61.
चैतन्यमंगल-जयानन्द- पृ. -142.
चैतन्य चरितामृतम्-कृष्णदास कविराज- 1/10/60. 61.
वैष्णवाचारदर्पण- पृ. -354.

4. चैतन्यचरितामृतम्- 1/12/85.

करते थे तथा अपना उच्छिष्ट प्रसाद रूप में दिया करते थे[1]। संन्यासग्रहणोपरान्त महाप्रभु के गृहत्याग के समय शिवानन्द भी गृहत्याग कर उनका अनुगमन करना चाहते थे, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने उन्हें कर्तव्यों के प्रति सजग करते हुये गृहत्याग से रोक देते हैं । इसका संकेत शिवानन्दसेन ने स्वयं अपनी कृति के एक पद्य में किया है[2]। शिवानन्दसेन को चैतन्यप्रभु के साक्षात्, आदेश तथा आविर्भाव इन तीनों रूपों की कृपा प्राप्त थी[3]। शिवानन्दसेन साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे । इनकी रचनायें "पादकल्पतरू" में संगृहीत हैं[4]। स्वयं कवि कर्णपूर ने चैतन्यदर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों के निरूपण में शिवानन्दसेन की सहायता ली है । कई स्थलों पर उनके मत का भी निर्देश किया है ।[5]

शिवानन्दसेन विपुल ऐश्वर्य के स्वामी होने पर भी अत्यन्त उदार, विनम्र, एवं संयमी वृत्ति वाले व्यक्ति थे । उनकी उदारता का परिचय नीलाचल यात्रा की एक घटना से मिलता है । शिवानन्द सेन प्रति-वत्सर चैतन्य महाप्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल जाया करते थे । उनकी सुरक्षा में नवद्वीप, के कुलीनग्राम तथा खण्डग्राम के समस्त भक्त जाया करते थे । एक बार यात्रा में एक कुत्ता भी शिवानन्द सेन के साथ-साथ चलने लगा । शिवानन्द उसे भी मार्ग में भोजनादि देते हुये उसकी रक्षा कर रहे थे । एक दिन नदी पार करते समय उत्कलवासी नाविक नें कुत्ते को नाव में बिठाकर नदी पार कराने का विरोध किया । कुत्ता पार नहीं जा सकेगा इस बात से दुःखी होकर

---

1. चैतन्यचरितामृतम्- कृष्णदास कविराज- 3/12/50-51.
2. गौरपदतरंगिणी-} द्वितीय संस्करण }, मृणालकान्त घोष } सम्पादक }5/3/5
3. चैतन्यचरितामृतम्- 1/10/58.
4. पादकल्पतरू-वैष्णवदास } संकलन कर्ता } सतीशचन्द्र राय } संपादक }
5. गौरगणोद्देशदीपिका- कर्णपूर, 63. 172.

उन्होंने नाविक को दश पण अर्थात् 200 कौड़ी व्यय देकर उस कुत्ते को पार ले गये । जीव के प्रति एक वैष्णव की कितनी दया होनी चाहिये यह प्रसङ्ग उनका आदर्श है [1] । चैतन्य महाप्रभु के आवास, भोजनादि की व्यवस्था तथा मार्ग में अवस्थित राजकीय चौकियों पर पड़ने वाले करों (राजकरों) को वे स्वयं देते थे [2] । इस सम्बन्ध में वे एकबार कारागार में भी बन्दी कर दिये गये थे [3] । चैतन्य के भक्तों के लिये वे स्वयं मार्ग के कङ्कण पत्थरों को हटाकर सुगम बनाया करते थे [4] ।

शिवानन्द सेन के तीन पुत्र थे-रामदास, चैतन्यदास तथा परमानन्द दास [5] । शिवानन्द के यह तीनों ही पुत्र चैतन्य के अनन्य सेवक थे ।

<u>कवि कर्णपूर के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनायें-</u>

शिवानन्द सेन के तृतीय पुत्र "परमानन्द दास" ही साहित्यिक जगत में "कवि कर्णपूर" के नाम से विख्यात है । कवि कर्णपूर ने स्वयं अपनी रचनाओं में भी

---

1. चैतन्य चन्द्रोदयम्, कर्णपूर, पृ. - 339-340.
   चैतन्यचरितामृतम्-कृष्णदास कविराज- 2/1/130, 3/1/12-28.
2. चैतन्य चन्द्रोदयम्-कर्णपूर-पृ. - 342.
   चैतन्यचरितामृतम्-कविराज- 2/16/18-26.
3. चैतन्य चन्द्रोदयम्-पृ॰ - 342.
   चैतन्यचरितामृतम्-कविराज- 3/12/15-16.
4. चैतन्य चन्द्रोदयम्-कर्णपूर-पृ. -338.
5. (क) गौरगणोद्देशदीपिका-कर्णपूर- पृ. - 145.
   (ख) चैतन्यचरितामृतम्-कृष्णदास, 1/10/60.
   (ग) वैष्णवाचारदर्पण- पृ. -354.

शिवानन्द सेन का परिचय अपने पिता के रूप में दिया है[1]। "परमानन्द दास" सेकवि का नाम "कर्णपूर" किस प्रकार और क्यों पड़ा ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये कवि के जीवन से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का विवरण यहाँ अभिप्रेत ही नहीं अपरिहार्य भी है । कवि कर्णपूर के विषय में कहा जाता है कि-चैतन्य महाप्रभु जब सन्यास-ग्रहण करके पुरी में विराजमान थे, तब बहुत से भक्तों की स्त्रियाँ भी अपने पति के साथ प्रभु-दर्शनों की लालसा से पुरी जाया करती थीं । एक बार जब शिवानन्द सेन अपनी पत्नी के साथ भक्तों को लेकर पुरी पधारे तब श्रीमती सेन गर्भवती थीं । चैतन्य-महाप्रभु नें शिवानन्द सेन को आदेश दिया कि- "इस बार पुत्र लाभ होने पर उसका नाम पुरी गोस्वामी के नाम पर "पुरीदास" रखना ।" प्रभु भक्त सेन महाशय ने ऐसा ही स्वीकार किया । जब उनको पुत्र-लाभ हुआ तो उन्होंने उसका नाम "परमानन्ददास" रखा[2]। परमानन्ददास बाल्यकाल से ही होनहार, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति और सरस हृदय थे । एक दिन पुरी में ठहरे हुये श्री शिवानन्दसेन के निवास स्थान पर दो चार प्रेमी जनों को लेकर श्री मन्महाप्रभु पधारे । पुत्र के अत्यधिक आग्रह करने पर शिवानन्दसेन इन्हें अपनी पत्नी तथा अन्य पुत्रों के साथ नीलाचल स्थित महाप्रभु के पास लाये । यद्यपि महाप्रभु चैतन्य परमानन्ददास को शिशु रूप में देख चुके थे[3]। तथापि शिवानन्द सेन इन्हें एकान्त में प्रभु के चरणों में डालनें को उत्सुक थे । अतएव एक दिन जब प्रभु चैतन्य स्वरूपगोस्वामी आदि दो चार भक्तों के साथ एकान्त में बैठकर श्रीकृष्ण कथा कह रहे थे, तभी सेन महाशय ने अपने पुत्र परमानन्द दास को चैतन्य महाप्रभु के चरण-

---

1. (क) चैतन्य चरितामृतम्- कवि कर्णपूर, 20/46.
   (ख) कृष्णाह्निक कौमुदी, कौतूहल- 6.
   (ग) चैतन्य चन्द्रोदयम्-कर्णपूर-पृ. -3.
   (घ) गौरगणोद्देशदीपिका-कर्णपूर-पृ. -145.
2. चैतन्यचरितामृतम्-कृष्णदास कविराज, 3/12/45, 46, 47, 48.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्-कर्णपूर-पृ. -184.
   काव्यमाला 87, निर्णय सागर प्रेस, बंबई द्वितीय संस्करण, 1917 ई0
   एवं ऐशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1854, ई0.

कमलों में लिटा दिया । परमानन्द दास प्रभु के चरणों में लेटे ही लेटे उनके अंगूठे को चूसने लगे[1] । मानों वे प्रभुपादपद्मों की मधुरिमा पी रहे हों । प्रभु चैतन्य इन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और बालक से अत्यधिक सन्तुष्ट होकर चैतन्य महाप्रभु नें शिवानन्द सेन से बालक के नाम के विषय में पूछा--इसका नाम क्या रखा है? सेन महाशय नें कहा "परमानन्द दास" । चैतन्य प्रभु नें कहा-यह तो बड़ा लम्बा नाम हो गया, किसी से लिया भी कठिनता से जायेगा । अतः उन्होंने बालक का नाम "परमानन्द दास" के स्थान पर "पुरीदास" कर दिया । बस उस दिन से ही कवि परमानन्ददास से "पुरीदास" हो गये ।[2]

इस घटना के पश्चात् एक बार शिवानन्द सेन इन्हें लेकर पुनः प्रभु दर्शनों को आये । महाप्रभु चैतन्य ने परमानन्द दास से स्नेह-पूर्वक कहा- बेटा पुरीदास, "कृष्ण कृष्ण कहो । किन्तु परमानन्द दास ने चैतन्य-महाप्रभु के पुनः अनुरोध करने पर भी कृष्ण नाम का उच्चारण नहीं किया । चैतन्य प्रभु आश्चर्य चकित होकर बोले "मैंने मानवों से ही नही अपितु जगत् के स्थावर जङ्गम मात्र प्राणियों से भी श्रीहरिनाम का सङ्कीर्तन करवा दिया, परन्तु इस बालक के द्वारा सङ्कीर्तन करवाने में तो मैं भी समर्थ नहीं हुआ । क्या कारण है? इस पर स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने कहा-यह बालक बड़ा बुद्धिमान है । इसनें समझा है कि प्रभु नें हमें मन्त्र प्रदान किया है, इसलिये अपने इष्ट मन्त्र को मन में जपा करता है । मन्त्र को अन्य किसी के समक्ष थोड़े ही प्रकट किया जाता है[3] । इस बात से सब सन्तुष्ट हो गये । एक दिन जब पुरीदास की अवस्था सात वर्ष की ही थी, तब शिवानन्द सेन इन्हें पुनः प्रभु के पास ले गये ।

---

1. (i) चैतन्य चरितामृतम्, कृष्णदास, 4/12/48,
   (ii) चैतन्यदेव- पृ. - 373.
2. चैतन्यचरितामृतम्, कृष्णदास कविराज, 3/12/43, 44, 48.
3. चैतन्य चरितामृतम्, कृष्णदास कविराज, 3/16/62-67.

प्रभु ने शिवानन्द सेन से पूछा-यह कुछ पढ़ता भी है? सेन ने धीरे से कहा अभी क्या पढ़ेगा । चैतन्य महाप्रभु ने "पुरीदास" से कहा-पुरीदास कुछ सुनाओ । इतना सुनते ही सात वर्ष के बालक के मुख से यह स्वरचित श्लोक निकल पड़ा-

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावन-रमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ।।[1]

सप्तवर्षीय बालक मुख से ऐसा भावपूर्ण श्लोक सुनकर सभी उपस्थित भक्तगण चकित रह गये । चैतन्य महाप्रभु नें कहा-तूने सर्वप्रथम ब्रजाङ्गनाओं के कर्णभूषण का वर्णन किया है, अतएव तू कवि होगा और "कर्णपूर" के नाम से तेरी ख्याति होगी[2] । तभी से "परमानन्द दास" कवि "कर्णपूर" हो गये ।

चैतन्य-महाप्रभु ने अंगुष्ठ लेखन के ब्याज से कवि कर्णपूर में अलौकिक कवित्व शक्ति का संचार कर दिया था[3] । अन्यथा सप्तवर्षीय बालक के लिये, जिसका अध्ययन भी अभी प्रारंभ नहीं हुआ था, काव्य रचना कर पाना अत्यन्त दुष्कर था । यह काव्य प्रतिभा का उन्मेष चैतन्य महाप्रभु का ही आशीष था[4] । कवि कर्णपूर शैशवावस्था में चैतन्य प्रभु से मिले थे तथा शिवानन्दसेन ने इनका परिचय महाप्रभु से कराया था, इस

---

1. आर्याशतकम् ग्रन्थ का प्रथम श्लोक माना जाता है ।

2. (I) एतेन मे श्रुतिः परिपूर्णा सञ्जाता, अतएव कर्णपूरोऽसि अतिविरूद परमानन्दाय दत्तवान् महाप्रभुरिति श्रूयते ।(पारिजातहरण भू.पृ.2)

(II) कवि कर्णपूर, आनन्द वृन्दावन चम्पू, सुखवर्तिनी टीका (पंडित ओल्ड-सीरीज, भाग-9)पृ. 106-108.

3. The tradition has it that as a baby Karnpoor once kisse Chaitanya's toe when the latter sat near him and as a result was endowed with the extraordinary poetical powe D.C. Sen Vaishanav Literature of Medieval Bengal, pp.71-

घटना का संकेत कवि कर्णपूर विरचित "चैतन्यचन्द्रोदयम्" के नवमाङ्क में मिलता है[1]। कवि कर्णपूर द्वारा शैशवावस्था में उच्चारित श्लोक विषयक घटना को कल्पित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्राय: लोक में देखा जाता है कि मनुष्य के आन्तरिक भाव उसकी वाणी के माध्यम से सहज ही प्रस्फुटित हो जाते हैं।

कवि कर्णपूर के जीवन से सम्बन्धित अन्य किसी घटना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। केवल बाल्यकाल की उपर्युक्त घटनाओं का ही संकेत उनकी कुछ कृतियों में प्राप्त होता है।

शिक्षा-

कवि कर्णपूर का विद्यार्थी जीवन सात वर्ष की अवस्था से ही माना जा सकता है। क्यों कि इस अवस्था में ही इन्होंने चैतन्य-प्रभु से साक्षात्कार किया था। चैतन्य-महाप्रभु से साक्षात्कार के पूर्व कवि कर्णपूर की शिक्षा प्रारंभ नहीं हुयी थी, इसका उल्लेख कृष्णदास कविराज ने "चैतन्यचरितामृतम्" में किया है। कृष्णदास कविराज के अनुसार चैतन्य-महाप्रभु के पादांगुष्ठपान के अनन्तर ही कर्णपूर की काव्य प्रतिभा प्रस्फुटित हुयी थी। इस दृष्टि से वही अवस्था कवि कर्णपूर की शिक्षा का प्रारम्भिक काल था। कवि कर्णपूर के टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती के अनुसार उनके प्रथम गुरू चैतन्य-महाप्रभु हैं। यद्यपि कवि कर्णपूर ने इनसे विधिवत् शिक्षा नहीं ग्रहण की थी तथापि चैतन्य-महाप्रभु ने ही सर्वप्रथम कर्णपूर को "कृष्णनाम" का दीक्षा मंत्र दिया था[2]। इस कारण कर्णपूर के आदि गुरू के रूप में चैतन्य-प्रभु का नाम उल्लेखनीय

---

1. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदय, पृ. - 356/10/

2. ------------------इत्यभिनन्द्य कृपयैतच्छिरसि चरणं दिधीर्षुबाल्यावेशेन मु

(I) व्यादत्तवन्तमेनं कौतुकेन चरणाङ्गुष्ठमास्वादायामास, दिव्यकाव्य-कर्तृत्वशक्तिमप्यलक्षितं संचारयामास। कवि कर्णपूर, आनन्द वृन्दावन चम्पू, सुखवर्तिनी टीका, (पण्डित ओल्ड सीरीज, भाग-9) पृ. -108.

(II) चैतन्यचरितामृतम्, कृष्णदास कविराज, 4/12/61-64.

है । स्वयं कर्णपूर ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि चैतन्य-प्रभु के चरणामृत-पान से उनका काव्यत्व प्रस्फुटित हो उठा-

यस्योच्छिष्टप्रसादादयमजनि मम प्रौढिमा काव्यरूपी
वाग्देव्या यः कृतार्थीकृत इह समयोत्कीर्त्य तस्यावतारम् ।[1]

तथापि लोक व्यवहार में श्रीनाथाचार्य कर्णपूर के गुरू के रूप में प्रसिद्ध हैं । श्रीनाथाचार्य अपने समय के उद्भट्ट विद्वान् थे । उनकी कीर्ति विश्वविख्यात थी । कवि कर्णपूर के अनुसार श्रीनाथाचार्य स्वयं अद्वैताचार्य के शिष्य थे । तथा अद्वैताचार्य की अनुकम्पा से इन्हें चैतन्य-महाप्रभु की विशेष कृपा प्राप्त थी[2] । अतः कवि कर्णपूर के गुरू श्रीनाथाचार्य ही थे, यह निर्विवाद है ।

व्यक्तित्व-

कवि कर्णपूर कितने प्रतिभावान् कवि थे? उनका व्यक्तित्व कितना विशाल था ? इसका परिचय हमे उनकी कृतियों से प्रतिबिम्बित होता है । उनमें कवि, भक्त, अलङ्कारिक, दार्शनिक तथा आलोचक सबका अपूर्व एवं मंजुल समन्वय देखने को मिलता है । इन समस्त रूपों में कर्णपूर का कविरूप अधिक प्रशस्त है । वे भक्त कवि पहले है । आलोचक, नाटकार, दार्शनिक बाद में । उनकी कवि प्रतिभा में संशय का अवकाश

---

1. चैतन्य-चन्द्रोदयम्, कवि कर्णपूर, पृ. -394.
2. (I) चैतन्यचन्द्रोदयम्, कवि कर्णपूर, दशम अङ्क.
   (II) वही, पृ. -13.
   (III) गुरूं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविष्णुं
   नुमो भूषा रत्नं भुव इव विभोरस्यदयितम् । कर्णपूर, आनन्द वृन्दावन चम्पू, (पण्डित ओल्ड सीरीज)भाग-9, V
   (IV) श्रीनाथपादकमलस्मृतिशुद्धबुद्धि-
   श्चम्पूमिमां रचितवान् कविकर्णपूरः।।वही, (पण्डित न्यू सीरीज, भाग-3)22/
   (V) कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, 3.

नहीं है । सात वर्ष की अवस्था में ही चैतन्य-प्रभु के आशीष से उनका यह कविरूप उद्भासित हो उठा था । कवि रूप में वे संस्कृत एवं बंगला साहित्य के गौरव है । एक भक्त के रूप में उनका व्यक्तित्व विशेष स्पृहणीय है । कर्णपूर की अधिकांश रचनायें चैतन्य तथा उनके भक्तों के प्रति उनकी असीम श्रद्धा व्यक्त करती है । कवि कर्णपूर ने साम्प्रदायिक रचनाओं को लिखकर चैतन्य सम्प्रदाय तथा महाप्रभु-चैतन्य की विचार-धारा को पल्लवित करने का सुन्दर प्रयास अवश्य किया, किन्तु अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से द्वेष कभी नहीं किया । शिवानन्द सदृश भक्त, चैतन्यानुरागी पिता तथा धर्मपरायण विदुषी मां के वात्सल्यमय-वातावरण मे शिशु कर्णपूर के मन मे प्रारम्भ से ही भक्ति का स्नेहांकुर बो दिया था । अनुकूल परिस्थितियों एवं शुभ संस्कारों के वातावरण में दिन-प्रतिदिन पल्लवित एवं पुष्पित इसी भक्तिलता की अमरवल्लरी में चैतन्यचरितामृतम्, आनन्द वृन्दावन चम्पू तथा गौरगणोद्देशदीपिका सदृश भक्तिभाव से परिपूरित पुष्प विकसित हुये, और आज भी अपनी रसमाधुरी से भक्तसहृदयों को आह्लादित एवम् आप्लावित कर रहे हैं । चैतन्य-भक्त परिवार में उत्पन्न होने के कारण कवि कर्णपूर के जीवन का अधिकांश समय चैतन्य के प्रमुख पार्षदों-नित्यानन्द, अद्वैत, रूपगोस्वामी, श्रीवास, मुरारिगुप्त आदि के मध्य व्यतीत हुआ ।[1] समस्त धर्मों के प्रति आदर भाव रखना कर्णपूर की उदार भावना का ज्वलन्त प्रमाण है । "प्रेम" तत्व को सर्वोपरि मानने वाले[2] कवि ने अपने जीवन में भी इसी आदर्श का निर्वाह किया । यही कारण है कि चैतन्य-प्रभु के प्रिय पार्षद शिवानन्द सेन के पुत्र होने पर भी उन्होंने कभी चैतन्य-सम्प्रदा में विशिष्ट स्थान अथवा पदप्राप्ति की कामना नहीं की । उनका भक्त हृदय एवं काव्य

---

1. दृष्टा भागवता: कृपाप्युपगता तेषां स्थितं तेषु च ।
ज्ञातं वस्तु विनिश्चितं च कियता प्रेम्णापि तत्रासितम् ।।

कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, 10/78.

2. सर्वेरसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञक: ।
खण्डानन्दा रसा: सर्वे सोऽखण्डानन्द उच्यते
अखण्डे खण्डधर्मा हि पृथक्पृथगिवासते ।। कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, 3/8-9.

दोनों साम्प्रदायिक संकुचित परिवेश से ऊपर उठकर मानवमात्र के कल्याणार्थ मुखरित हुआ है । पिता की साहित्यिक-प्रतिभा उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त हुयी थी, और उनका काव्यत्व चैतन्य-प्रभु के चरण-कमलों के स्पर्श से प्रस्फुटित हो उठा था । इस तथ्य को कवि कर्णपूर नें स्वयं स्वीकार किया है कि महाप्रभु के उच्छिष्ट के प्रसाद से उन्हें वाणी प्रौढ़ता स्वरूप काव्यक्षमता प्राप्त हुयी, जिसे उन्होंने महाप्रभु के अवतार का वर्णन करके सार्थक किया ।[1] कवि कर्णपूर के निरहङ्कार, निःस्वार्थ तथा विरक्त भक्त होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ?

अलङ्कार के क्षेत्र में भी कवि कर्णपूर का महत्वपूर्ण स्थान है । उनकी रचना "अलङ्कार कौस्तुभ" एक प्रसिद्ध कृति है । कवि कर्णपूर की यमक-प्रधान गरिष्ठ गद्यों की कविता नारियल, बादाम, एवम् ईख के सदृश बाहर से तो कठोर प्रतीत होती है, परन्तु टीकाकार महानुभाव के द्वारा उनकी ग्रन्थि खोल देने पर वे ही ग्रन्थ कितनें सरस प्रतीत होनें लगते हैं इसे विशेषज्ञ पुरूष ही जानते हैं ।

दार्शनिक के रूप में उनका व्यक्तित्व उनकी समस्त कृतियों में देखनें को मिलता है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय "चैतन्य चन्द्रोदयम्" में दार्शनिकता पग-पग पर दृश्यमान है । अतएव उनके दार्शनिक व्यक्तित्व को दर्शाने के लिए यहाँ पर "स्थालीपुलाकन्यायेन" द्वारा "चैतन्यचन्द्रोदय" से कुछ स्थल प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारानुसार यह विश्व भ्रम मात्र है । सत्य, शाश्वत एवं नित्य तत्व केवल आत्मा है । जिसमें नानात्व का अभाव है । पँच तत्व समस्त भूतों में समाहित है ।[2] कवि कर्णपूर किसी भी प्रमाण को स्वीकार करने के पक्ष में

---

1. यस्योच्छिष्टप्रसादादयमजनि मम प्रौढिमा काव्यरूपी ।
   वाग्देव्या यः कृतार्थीकृत इह समयोत्कीर्त्य तस्यावतारम् ।।

   चैतन्यचन्द्रोदयम्, 10/76.

2. चैतन्यचरितामृतम्, कवि कर्णपूर, 2/73-75.

नहीं है । उनके अनुसार हृदय स्थित अन्धकार की कटुता का मार्जन करने वाली ईश्वर लीला को भगवान् की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अवगत नहीं कर सकता है [1]। उनके अनुसार मुख्य सम्बन्ध तत्त्व कृष्ण है । सकलजन के अन्त:करण का आकर्षण करना ही ब्रह्म या ईश्वर का असाधारण लक्षण है । ईश्वर सबको आनन्दित करता है । इसलिये वह आनन्दमय है [2]।

आलोचक के रूप में कवि कर्णपूर अत्यन्त स्पष्टवादी, निर्भीक तथा निष्पक्ष है । सैद्धान्तिक तथा साहित्यिक आलोचना करते समय उन्होंने प्रशंसनीय साहस का परिचय देते हुये निष्पक्ष निर्णय दिया है । "अलङ्कार-कौस्तुभ में काव्य का निरूपण करते समय निर्भीकतापूर्वक काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट तथा साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ की आलोचना की है [3]। काव्य दोषों के प्रसङ्ग में कर्णपूर ने अपने गुरू श्रीनाथ [4] तथा स्वकीय ग्रन्थ "आनन्द वृन्दावन-चम्पू" का उदाहरण प्रस्तुत करके अपनी निष्पक्ष दृष्टि का परिचय दिया है [5]।

साहित्य समाज का दर्पण है । समाजसुधारक के रूप में उनकी वाणी हृदय-स्पर्शी एवं ओजस्वी है । साहित्य में कर्णपूर की रचनाओं के अनुशीलन से हमें तत्कालीन समाज तथा धर्म का यथार्थ परिचय मिल जाता है । उनके सरल व्यक्तित्व में छल-कपट, पाखण्ड, दम्भ, मिथ्या आदि का स्थान नहीं था । अतएव समाज में व्याप्त इन प्रवृत्तियों का चित्रण अपने नाटक"चैतन्यचन्द्रोदय" में विराग के माध्यम से करके उन्होंनें

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्, कवि कर्णपूर, पृ. -129.
2. वही, पृ. -14.
3. अलङ्कार-कौस्तुभ, कवि कर्णपूर, पृ. -8-9.
4. वही, दशम किरण, पृ. - 371.
5. न मे वाणी वृन्दावनरमणलीलामृतहृदेनिमग्नाऽप्युद्यातं प्रभवति कथया तु परि

वही, दशम किरण, पृ. - 381.

अपने हृदयगत विरोध को प्रकट किया है[1]। संसार में सज्जन और दुर्जन दोनों ही प्रकृतियों के व्यक्ति होते हैं। कर्णपूर को जहाँ एक ओर चैतन्य तथा उनके पार्षदों की सत्सङ्गति का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, वहीं दूसरी ओर उन्हें दुर्जनों के व्यवहार से पीड़ित भी होना पड़ा था। दुष्टों की प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने वाले निम्नलिखित श्लोकादय प्रमाणित करते हैं कि कर्णपूर को अवश्य ही दुष्टों ने पीड़ित किया होगा--

निर्मलयसि भवनतलं सतताक्षिप्तेन पद्मलेन।
सलरसेन (सम्मार्जिनि) तदपि च भीतिभवत्स्पर्शी ।।[2]
तथा-
न लवोऽपि लवेन च व्यधायाः प्रदिग्धं विदुनोतियस्यसौः।
न खलो न खलोमतो सतो न्यस्तमबद्धाः किलकेन सत्यजेयुः ।।[3]

कर्णपूर जीव-विज्ञान के भी अच्छे ज्ञाता थे। आनन्दवृन्दावन चम्पू में गोदोहन, गोचारण आदि प्रसङ्गो की सूक्ष्मता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। कवि ने हरिणों की विभिन्न जातियों का उल्लेख किया है--"निर्झरेषु कृतावगाहाः सर्वा एव एक चमर-चमरू-गवय-गन्धर्व-समर-रोहित-शशा-शम्बर, प्रभृतयों हरिणजातयो हरिन्मणिमहिता एव परस्परं न परिचिन्वन्ति।"[4]

---

1. द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का सप्तम अध्याय "लोक जीवन की झांकी"।
2. आनन्द वृन्दावन चम्पू, 1/22.
3. वही, 1/14.
4. वही, पृ. -40.

काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त कवि कर्णपूर सङ्गीत कला के भी पण्डित थे । आनन्द-वृन्दावन चम्पू में रासलीला के प्रसङ्ग में उल्लिखित विविध राग-रागनियों के विवरण[1] से यह ज्ञात होता है । कि कर्णपूर ने संभवतः सङ्गीत की भी शिक्षा ग्रहण की होगी ।

इस प्रकार सुन्दर परिस्थितियों एवम् उनकी सरल सौम्य तथा उदार भावना ने कवि कर्णपूर के व्यक्तित्व को सुसंगठित बनानें में पर्याप्त योगदान दिया ।

चैतन्य साहित्य में कवि कर्णपूर का स्थान-

कवि कर्णपूर एक महाकवि की प्रतिभा से सम्पन्न कवि हैं । उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विस्तार संस्कृत साहित्य की समस्त विधाओं-महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, चम्पू, एवं लक्षणकाव्य में हुआ है । कवि कर्णपूर की कृतियों में समस्त विशेषताये कथानक की सरलता, एक सूत्रता, छन्द एवम् अलङ्कार की रसानुगुणता, वस्तु वर्णन की सुन्दरता, वैदर्भी रीति तथा प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रचुरता परिपूर्ण है । कवि कर्णपूर का सशक्त व्यक्तित्व सम्पूर्ण चैतन्य-सम्प्रदाय और साहित्य पर छाया हुआ है । चैतन्य के जीवन की मूल घटनाओं के लिये प्रत्येक उत्तरवर्ती लेखक कवि कर्णपूर की कृतियों का ऋणी है । कवि कर्णपूर से परवर्ती चैतन्य के चरित लेखकों में "चैतन्यचरितामृतम्" महाकाव्य के रचयित कृष्णदास कविराज कवि कर्णपूर से सर्वाधिक प्रभावित हैं । उन्होंने अपनी रचनाओ में अने स्थलों पर कवि कर्णपूर के महाकाव्य एवं नाटक से मूल घटनायें ही नहीं ग्रहण कीं अपितु उनका भावानुवाद एवं शब्दानुवाद भी किया है । कवि कर्णपूर कृत् "चैतन्यचन्द्रोदयम्" से गृहीत श्लोक स्थल इस प्रकार है--

---

1. थैया तथतथैया, तथ तथैया तथान्ति तथैया ।
   थैया तथतथैया तगथगगथगत त्रिथदिगणथैः ।।

   आनन्द वृन्दावन चम्पू, कर्णपूर, 20/24.

चैतन्य के साथ सार्वभौम भट्टाचार्य के वाद-विवाद के अवसर पर सविशेष ब्रह्म की सिद्धि के लिये प्रयुक्त पद्य-

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव ।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव ।।[1]

चैतन्य की स्तुति स्वरूप दामोदर द्वारा--
हेलाद्धूलितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया
शश्वद्भक्ति विनोदया समदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्यदयानिधे तव दया भूयादमन्दोदया ।।[2]

इसी प्रकार कृष्णदास कविराज ने अपने चैतन्य चरितामृतम् के मध्य खण्ड में तृतीय से लेकर षोडशपरिच्छेद पर्यन्त कविकर्णपूर के चैतन्यचन्द्रोदयम् नाटक तथा चैतन्यचरितामृतम् महाकाव्य का अवलम्बन लिया है । किन्हीं स्थलों पर कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर की शैली का भी अनुसरण किया है । कविराज की चैतन्य-चरितामृतम् के कुछ प्रसङ्ग पर कवि कर्णपूर कृत् चैतन्यचन्द्रोदयम् का स्पष्ट प्रभाव दृश्यमान होता है--

---

1. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् में उद्धृत, 2/6/8.
2. वही, 2/10/3.

चैतन्यचन्द्रोदय[1]	चैतन्यचरितामृतम्[2]
भगवान्–का विद्या ?	प्रभु कहे–कोन विद्या विद्यामध्ये सार ।
रामानन्दरायः– हरिभक्तिरेवं न पुनर्वेदादिनिष्णातता ।	राय कहे–कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर ।
भगवान्–कीर्तिः का ?	कीर्तिगणमध्ये जीवेरकोन बड़ कीर्ति ?
रामानन्दरायः– भगवत्परोऽयमिति–या ख्यातिर्न दानादिना ।	कृष्णप्रेमभक्त वलियार हय ख्याति ।।
भगवान्–का श्रीः ?	सम्पत्ति जीवेर कोन सम्पत्तिगणि ?
रामानन्दः– तत्प्रियता न वा धनजन–ग्रामादिभूयिष्ठता ।	राधाकृष्ण प्रेमयार सेइ वऽधनी ।।
भगवान्–किंदुःखम् ?	दुःखमध्ये कोन दुःख हय गरूतर ?
रामानन्दः– भगवत्प्रियस्य विरहो नो–हृद् श्रणादिव्यथा ।	कृष्णभक्त विरह बिनु दुःख नाहि अरि ।।
भगवान्– किमनुध्येयं ?	ध्येयमध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन ध्यान ?
रामानन्दः– मुरारेः पदम् ।	राधाकृष्ण–पादाम्बुज–ध्यान प्रधान ।।
भगवान्– क्व स्थेयम् ?	सर्वत्यागी जीवेर कर्त्तव्य काहां वास ?
रामानन्दः– व्रज एव ।	व्रजभूमि वृन्दावन–याहां लीला रास ।।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्, कवि कर्णपूर, सप्तम सर्ग,

2. चैतन्यचरितामृतम्, कृष्णदास कविराज, 2/8/91–99.

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के काव्य एवं नाटक का पग-पग पर आश्रय लिया है । उनका पंचतत्त्व निरूपण भी कवि कर्णपूर के पंचतत्व निरूपण के आधार पर ही किया गया है । प्रमुख चैतन्य-भक्त नरहरि चक्रवर्ती पर भी कवि कर्णपूर का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । उन्होनें अपने ग्रन्थ भक्तिरत्नाकर में अपने मत की पुष्टि के लिये कई स्थलों पर चैतन्य-चन्द्रोदयम्, चैतन्यचरितामृतम्, गौरगणोद्देशदीपिका, एवं वृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका का उल्लेख किया है ।

चैतन्य प्रभु के समसामयिक जगन्नाथ पण्डित के प्रपौत्र प्रेमदास ने कवि कर्णपूर कृत् चैतन्यचन्द्रोदयम् से अत्यधिक प्रभावित होकर उसका भावानुवाद बङ्. भाषा में किया है । जों "चैतन्यचन्द्रोदय कौमुदी" नाम से विख्यात है । उद्धवदास नामक एक स्फुटपद-कर्त्ता ने कवि कर्णपूर से प्रभावित होकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के सिंहावलोकन से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चैतन्य साहित्य में कवि कर्णपूर का महत्वपूर्ण स्थान है । समस्त साहित्य उनकी अमूल्य निधियों के लिये सदैव कृतज्ञ रहेगा ।

कवि कर्णपूर की कृतियाँ-

कर्णपूर की अनेक रस से पल्लवित रचनाओं से संस्कृत साहित्य समृद्ध हुआ है । काव्य के विविध रूपों-महाकाव्य, खण्डकाव्य, लक्षणकाव्य, को कर्णपूर ने अपना विषय बनाया है । कर्णपूर की समग्र कृतियों को काव्य प्रकार के आधार पर निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत् किया जा सकता है--

---

1. याशुनि भक्ति उदय नास्तिकतानष्ट हय,
अवैष्णवभाव हय दूर ।
कर्णपूर गुण यत कए मुखे कथा कत,
चैतन्येर वर पुत्र येहँ ।
उद्धवेर दया करि ज्ञानचक्षु दान करि, 6/3/47.
करित्व लभों याय जानि तहँ ।। गौरपदतरंगिणी,

महाकाव्य-	चैतन्यचरितामृतम् एवं पारिजातहरण ।
खण्डकाव्य-	आयश्चितकम्, कृष्णाह्निककौमुदी, स्तवावली, श्रीकृष्णचैतन्यसहस्रनाम स्तोत्र एव स्फुट पद ।
नाटक-	चैतन्यचन्द्रोदयनाटकम्,
चम्पू-	आनन्दवृन्दावन चम्पू ।
लक्षणकाव्य-	अलङ्कार-कौस्तुभ:
साम्प्रदायिक ग्रन्थ-	गौरगणोद्देशदीपिका, वृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका एव श्रीमद्भागवत् की टीका ।
संदिग्ध रचनायें-	चमत्कारचन्द्रिका एवं कृष्णकौतुकुभ् ।

कृतियों के प्रतिपाद्य

चैतन्यचरितामृतम्-

चैतन्यचरितामृतम् महाकाव्यशिवानन्दसेन के कनिष्ठ पुत्र परमानन्द दास अर्थात् कवि कर्णपूर की कृति है[1]। लेखक नरहरि चक्रवर्ती नें भी इसे कवि कर्णपूर की ही कृति मानी है[2]। कवि कर्णपूर के अनुसार "चैतन्यचरितामृतम्" का रचनाकाल शाक-संवत् 1464 अर्थात् 1542 ई० प्रमाणित होता है[3]। यह कवि की प्रारंभिक रचना है।

---

1. इस परमकृपालोगौरचन्द्रस्य कोऽपि-
   प्रणयरसशरीर: श्री शिवानन्दसेन: ।
   भुवि निवसति तस्यापत्यमेकं कनीय-
   स्तवकृत परममौग्ध्याच्चित्रमेतं प्रबन्धम् ।। चैतन्य चरितामृतम्, कर्णपूर, 20/46.
2. नरहरि चर्कवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ. -482.
3. वेदारसा: श्रुतय इन्दुरितिप्रसिद्धे
   शाके तथा खलु शुचौ सुभगे च मासि ।
   बारे सुधाकिरणनाम्न्यसितद्वितीया-
   तिथ्यन्तरे परिसमाप्तिरभूदमुष्य ।। चैतन्य चरितामृतम्, कर्णपूर, 20/49.

"चैतन्यचरितामृतम्" 20 सर्गों में विभाजित महाकाव्य है । इसमें कवि कर्णपूर ने चैतन्य-महाप्रभु के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को छन्दोबद्ध करने का प्रयास किया है । कवि कर्णपूर के इस महाकाव्य में कल्पना और ऐतिहासिकता का अद्भुत सन्तुलन दृश्यमान होता है । महाकाव्य के प्रथम सर्ग में चैतन्य-प्रभु के अवसान के पश्चात् भक्तों का विरह-वर्णन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय सर्ग में नवद्वीप का वर्णन, विश्वंभर का जन्म, सन्नास ग्रहण आदि घटनाओं का उल्लेख किया गया है । तृतीय सर्ग में विष्णु पण्डित तथा व्याकरणाचार्य गङ्गादास से चैतन्य की शिक्षा, लक्ष्मी से उनका विवाह, सर्पदंशन से लक्ष्मी की मृत्यु, तदनन्तर विष्णुप्रिया से द्वितीय विवाहादि का वर्णन है । चतुर्थ सर्ग में विश्वम्भर की गया यात्रा, ईश्वरपुरी से मंत्र-दीक्षा वर्णित है । पञ्चम सर्ग से अष्टम सर्ग पर्यन्त धर्मोन्मत्त विश्वंभर की धार्मिक क्रियाओं के साथ उनकी नृत्यकथा का वर्णन है । नवम् दशम सर्ग में श्रीवास कृत वृन्दाव लीला को दर्शाया गया है । एकादश सर्ग में चैतन्य की पुरी यात्रा का मनोरम वर्णन द्वादश सर्ग में सार्वभौम के घर पर अद्वैतवाद का खण्डन और भक्ति की स्थापना का प्रसङ्ग है । त्रयोदश सर्ग में चैतन्य की दक्षिण-यात्रा, रामानन्द के प्रति उनके भक्ति विषयक विचार गजपति प्रतापरुद्र से चैतन्य-प्रभु की भेंट आदि घटनायें वर्णित हैं । चत् से विंश सर्ग पर्यन्त चैतन्य के भक्तिपूर्ण जीवन का उल्लेख है ।

इस प्रकार 20 सर्गों में कवि ने भक्तिपरक कथानक का चयन करके उसे संस्कृ महाकाव्य की परम्परागत शैली में उपनिबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है ।

पारिजातहरण-

संस्कृत साहित्य में पारिजातहरण शीर्षक से अनेक रचनायें प्राप्त होती हैं। 1956 में मिथिला इन्स्टीट्यूट के प्रधानाचार्य श्री अनन्तलाल ठाकुर के सम्पादन में इ महाकाव्य का सम्पादन हुआ है । श्री हर्ष कृत् नैषध काव्य की भाँति ही इस महाव

---

1. कैटलागस कैटलागारम्, खण्ड- 1, पृ. -335.

के सगान्ति श्लोकों में कवि कर्णपूर का नाम रचनाकार के रूप में उल्लिखित है [1]। इससे ज्ञात होता है कि इसके रचयिता कवि कर्णपूर हैं । "पारिजातहरण महाकाव्य 18 सर्गों में विभक्त है । इसमें कृष्ण द्वारा स्वर्ग से "पारिजात वृक्षहरण करने की पौराणिक कथा का उपनिबन्धन किया गया है । कथा की सरसता एवं रोचकता के विषय में कवि ने स्वयं कहा है-"काव्ये चारूणि पारिजातहरणे" । इसमें इन्द्र और कृष्ण के मध्य युद्ध का वर्णन है, जिसमें असंख्य जनता मारी जाती है । अन्त में कृष्ण और इन्द्र आपस में सन्धि कर लेते हैं और पश्चाताप करते हैं । कृष्ण युद्ध करने की अपनी गलती को स्वीकार कर लेते हैं । इन्द्र भी पारिजात वृक्ष प्रदान कर क्षमा-याचना करते हैं [2]। अन्त में दोनों ही सुख-समृद्धि का उपभोग करते हैं । कवि ने कृष्ण के सुखी साम्राज्य का वर्णन कर ग्रन्थ की समाप्ति की है ।

आर्याशतकम्-

"आर्याशतकम्" कवि कर्णपूर की प्रथम कृति है [3]। इसमें आर्या छन्द के 100 श्लोक हैं, जिसमें महाप्रभु चैतन्य की स्तुति की गई है । वर्तमान समय में यह अप्राप्य है [4]। कवि कर्णपूर द्वारा प्रथमतः उच्चारित और "अलङ्कार-कौस्तुभ" में "मालारूपक" के उद्धरण के रूप में उल्लिखित पद्य-"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरंजनमुरसो महेन्द्रमणिदाम" आर्याशतकम् का है, ऐसी सम्भावना व्यक्त की जाती है । प्रमाणस्वरूप कृष्णदास कविराज की चैतन्यचरितामृतम् में यह स्थल पठनीय है-

---

1. स्वान्तध्वान्तविधूननं प्रणमतां दीर्घादरं ध्यायता
   धन्यं किञ्चन हृद्गतं नवजवासिन्दूरसान्द्र महः ।
   धीरश्रीकविकर्णपूरकृतिना कौतूहलान्निर्मिति-
   काव्ये चारूणि पारिजातहरणे सर्गस्तृतीयो ययौ । पारिजातहरणम्, कविकर्णपूर,
2. पारिजातहरणम्, कर्णपूर, 16/15, 16, 26, 27,
3. Early history of Vaishanava faith & movement in Bengal
   S.K. Dey, p.42-43.
4. (1) कैटलागस कैटलागारम्, खण्ड-1, पृ. -86.
   (11) Two Ascriptions examined, our Heritage -S.P.Bhattachary
   Vol.IV Part I, 1956, p.10

"तथाहि कर्णपूरकृतआर्याशतके"[1]। उत्तरवर्ती लेखक प्रेमदास ने "चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी" में "आर्याशतकम्" को कवि कर्णपूर की रचना स्वीकार किया है[2]। हरिमोहन प्रमाणिक ने भी इसे कवि कर्णपूर की ही कृति माना है[3]। ग्रन्थ के अप्राप्य होने के कारण उसके प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं है ।

कृष्णाह्निक् कौमुदी-

इसमें राधा कृष्ण की अष्टकालिक नित्यलीलाओं को अत्यन्त रोचक शैली में श्लोकबद्ध किया गया है । वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार दिवस को आठ भागों में बांटा गया है । इसमें छः प्रकाश हैं । प्रथम प्रकाश सबसे छोटा है । इसका आरम्भ रात्रि के अवसान से होता है । इसमें राधा कृष्ण की निशान्त लीला का चित्रण किया गया है । रात्रि के वन विहार से क्लान्त होकर कुञ्ज में शयन करने वाले राधाकृष्ण को तारों से सुशोभित रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुकसारिका मधुर कलरवसे जगाते हैं । इन शुकों को राधा की सखि वृन्दा भेजती है । तदनन्तर रात्रि की केलिक्रीडाओं से क्लान्त राधा के श्रृङ्गारिक भावों का वर्णन किया गया है । तत्पश्चात् लताकुञ्ज के शयन को त्यागकर गृहगमन का वर्णन है । द्वितीय प्रकाश में राधा कृष्ण की प्रातः लीलाओं क वर्णन किया गया है । कुञ्ज से आकर घर में शयन करते हुये कृष्ण को यशोदा जगाती हैं परिचारिकायें उन्हें स्नान कराती हैं । दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के पश्चात् कृ गोदोहन करते हैं । सखाओं के साथ विविध क्रीडायें तथा मल्लयुद्ध करने का प्रसङ्ग इसी अध्याय में है । इसके साथ ही साथ कवि कर्णपूर ने राधा और उनकी सखियों के भी प्रा

---

1. (I) चैतन्य चरितामृतम्, कृष्णदास, 3/16/7, पृ. -332.

(II) "अलंकार कौस्तुभः" के सम्पादक भट्टाचार्य नें अलङ्कार कौस्तुभ की "मौक्तिकावली" टिप्पणी में "श्रवसोः कुवलयम्" पद्य को "आर्याशतकम्" का प्रथम पा स्वीकार किया है । (अलङ्कार-कौस्तुभ, कर्णपूर, सप्तम किरण, पृ. -296)

2. चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी, प्रेमदास, पृ. -486.

3. हरिमोहन प्रमाणि, भारतवर्षीयकवि दिगेर समय निरूपण, पृ. -117.

कालीन क्रियाओं आदि का मनोरम दृश्य प्रस्तुत किया है । तदनन्तर नन्दगृह में आकर रोहिणी के साथ मिलकर राधा द्वारा विभिन्न स्वादिष्ट व्यञ्जनों को बनाने का भी उल्लेख किया गया है । तृतीय प्रकाश में कृष्ण की पूर्वाह्न लीला का वर्णन छन्दोबद्ध है । सखाओं सहित कृष्ण का प्रातः कालिक भोजन करना, गोचारण के लिये वनगमन, वन में गोचारण के अतिरिक्त विविध प्रकार की क्रीड़ाओं को करना तथा वन की शोभा, कृष्ण तथा उनके मित्रों की वेशभूषा वस्त्रालङ्कार आदि का वर्णन किया गया है । चतुर्थ प्रकाश में कृष्ण की मध्याह्न लीलाओं का वर्णन है । राधा के साथ कृष्ण की श्रृङ्गारिक चेष्टायें अन्य गोपियों के साथ कृष्ण का अभिसार, सौन्दर्यविधान, कृष्ण के अङ्ग प्रत्यङ्गों का वर्णन, वंशी की धुन पर गोपियों की मुग्धता, राधा-कृष्ण व गोपियों की जलक्रीडायें आदि प्रसङ्ग है । कवि ने यहाँ वन-सौन्दर्य वर्णन के प्रसङ्ग में षड्ऋतुओं का भी चित्रण किया है । पञ्चम प्रकाश में अपराह्न तथा सायं लीला का वर्णन किया गया है । कृष्ण के वियोग में पशुपक्षी, वृक्ष, लता, पर्वत, सरोवर आदि सभी जड़ चेतन व्याकुल हो जाते हैं । स्वयं कृष्ण भी उदास हो जाते हैं । कृष्ण के गृह लौटने पर गोदोहन आदि क्रियाओं, वस्त्र परिवर्तन-मालिश, स्नान, विश्राम, जलपान आदि का वर्णन किया गया है । षष्ठ प्रकाश में कृष्ण की प्रदोष लीला है । यशोदा द्वारा कृष्ण को शयन के लिये प्रेरित करना, शयन कक्ष से कृष्ण का चुपके से वनकुञ्जों में प्रस्थान, कुञ्ज गृहों में राधा एवं गोपियों के साथ की गयी क्रीड़ायें, खेल-खेल में राधा द्वारा कृष्ण का रत्नाभूषण चुरा लेना आदि घटनाओं का वर्णन किया गया है ।

स्तवावलि-

कवि कर्णपूर ने स्तोत्रों की भी रचना की थी ऐसा उनके परवर्ती लेखक उद्धवदास के एक पद से पता चलता है[1]। पुस्तक के अप्राप्य होने से उसके वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है । केवल सम्भावना की जा सकती है कि उसमें भी कृष्ण या चैतन्य के प्रति स्तुत्यात्मक पदों का संकलन होगा ।

1. श्रीचैतन्यचन्द्रोदय, स्तवावलि, ग्रन्थत्रय रचितेन कविकर्णपूर । 6/3/87.
या शनि भक्ति उदय नास्तिकता नष्ट हय अवैष्णव भाव हयदर ।।

श्री कृष्ण चैतन्य सहस्रनामस्तोत्र-

इसमें चैतन्य के सम्पूर्ण जीवन चरित को दर्शाया गया है । उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में प्रामाणिक मानकर, उनमें राधाभाव, उनकी भक्तवत्सलता, करूणा, उनके विभिन्न स्वरूप तथा उनके भ्राता विश्वरूप एवम् अद्वैत आदि पार्षदों का भी उल्लेख किया है ।

प्रस्तुत स्तोत्र के प्रारंभ में ही श्रीशिवानन्द आत्मज श्री कविकर्णपूर विरचित तथा अन्त में भी कवि कर्णपूर विरचित श्री कृष्ण चैतन्य सहस्रनाम स्तोत्र समाप्तं लिखा है । जिससे इस कृति के रचनाकार के विषय में सन्देह नहीं रहता है ।

स्फुट पद-

विकासोन्मुखी प्रतिभा के धनी कवि कर्णपूर ने केवल संस्कृत भाषा मे ही अपनी रचनाओं का प्रणयन नहीं किया है, अपितु बड्. भाषा में स्फुट पद की रचना करके अपनी मातृ भाषा बड्.ला का भी साहित्य समृद्ध बनाने में योगदान दिया है। कवि कर्णपूर कृत् इन स्फुट पदों का संकलन "पदकल्पतरू"[1] तथा "गौरपदतरड्.णी"[2] में किया गया है । बड्. भाषा में स्फुट पदों के अतिरिक्त कवि कर्णपूर ने संस्कृत भाषा में भी स्फुट पदों की रचना की है ।

---

1. सतीश चन्द्र राय, सं. वैष्णवदास संकलनकर्ता,

2. मृणालकान्त घोष सं. द्वितीय संस्करण,

चैतन्यचन्द्रोदयनाटकम्-

कवि कर्णपूर कृत यह नाटक हमारे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है । यह एक प्रतीक नाटक है । इसकी प्रतीकात्मकता के विषय में आगे विस्तार से वर्णित किया जायेगा[1] तथा इसके प्रतिपाद्य विषय का भी विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय के कथानक शीर्षक के अन्तर्गत प्राप्य है[2]। विस्तार भय के कारण उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है ।

आनन्द वृन्दावन चम्पू-

प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना कर्णपूर ने अपनी प्रौढ़ावस्था में की होगी । ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही न केवल महाप्रभु के परलोक गमन पर शोक प्रकट किया गया है, अपितु उनके पार्षदों एवं शिष्यों के लिये भी शोक प्रकट किया गया है । ग्रन्थ का अभिधेय कृष्ण जन्मोत्सव से लेकर रासलीला तक का वर्णन है । समस्त ग्रन्थ 22 स्तबकों में विभाजित है ।

प्रथम स्तबक में वृन्दावन तथा वहाँ के निवासियों का वर्णन किया गया है । वृन्दावन में स्थान-स्थान पर मरकत मणिमय वृक्षों का सौन्दर्य, लताओं, यमुना नदी का, यमुना के तटवर्ती कुञ्जों की शोभा के साथ-साथ गोवर्धन पर्वत आदि का वर्णन किया गया है ।

द्वितीय स्तबक से लेकर सप्तम स्तबक तक कृष्ण की बाल लीलाओं का सविस्तार वर्णन किया गया है । द्वितीय स्तबक कृष्ण की जन्म कथाओं को लेकर आगे बढ़ता है । जिसमें कृष्ण जन्म के प्रयोजनों को भी वर्णित किया गया है । तृतीय स्तबक में कंस द्वारा प्रेषित पूतना नामक कामरूपधारिणी राक्षसी के वध तथा मथुरा से गोकुल प्रत्यावर्तन पर नन्द और यशोदा का रूदन वर्णित है । चतुर्थ स्तबक

---

1. दृष्टव्य प्रस्तुत अध्याय का "चैतन्यचन्द्रोदय की प्रतीकात्मकता" नामक शीर्षक
2. दृष्टव्य प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय.
3. पं० ओल्ड सीरीज काशी, खंड-9-10

में कृष्ण द्वारा शकट और तृष्णावर्त का किया गया बध वर्णित है । पञ्चम स्तबक में कृष्ण की मनोहारी बालक्रीड़ाओं का स्निग्ध चित्रण है । कृष्ण का नामकरण संस्कार भी इसी स्तबक में है । यशोदा को कृष्ण के अलौकिक ईश्वरी रूप का दर्शन भी इसी स्तबक में वर्णित किया गया है । षष्ठ स्तबक में कृष्ण के "दामबन्धन," "यमलार्जुनमोचन" आदि कृत्यों में किये गये पराक्रम का वर्णन किया गया है । सप्तम स्तबक में वत्सराक्षसबध वनभोजन, तथा अहड्.कारी ब्राह्मणों के दर्पचूर्ण आदि प्रसिद्ध घटनाओं को उपनिबद्ध किया गया है ।

अष्टम स्तबक से लेकर द्वाविंशति स्तबक तक में कृष्ण की किशोरावस्था तथा युवावस्था की मधुर क्रीडाओं का चित्रण किया गया है । अष्टम स्तबक गोपिकाओं के "पूर्वराग," "कन्दुकक्रीडा" तथा, "धनुकाराक्षसवध" वर्णन से पूर्ण है । नवम स्तबक में यमुना में कालियानाग के मथन की कथा उपनिबद्ध है । दशम स्तबक मे राधा-कृष्ण की रति-क्रीडा तथा भोजन बनाने का वर्णन है । एकादश स्तबक में ग्रीष्म ऋतु, प्रलम्बवध, शरद-ऋतु, वंशीवादन तथा राधा कृष्ण की क्रीडायें वर्णित है । द्वादश स्तबक में गोपिकाओ के चीरहरण का वर्णन है । त्रयोदश स्तबक में ब्राह्मण पत्नियों के प्रति कृष्ण का अनुग्रह वर्णित है । चतुर्दश स्तबक में अनेक पर्वो और उत्सवों का वर्णन किया गया है । पञ्चदश स्तबक में गोवर्धन पर्वत धारण करने की कथा वर्णित है । सप्तदश से लेकर विंशति स्तबक तक कृष्ण की रासलीलायें एवं रतिक्रीडायें वर्णित है । एकोनविंशति स्तबक में कृष्ण की वंशी चुराने का वर्णन किया गया है । द्वाविंशति स्तबक में दोलापर्व का मनोहारी चित्रण किया गया है ।

<u>अलड्.कार-कौस्तुभ-</u>

अलड्.कार-कौस्तुभ की रचना करके कर्णपूर वैष्णवभक्त होकर भी अलड्.कार शास्त्र के आचार्यों में प्रतिष्ठित हो गये । कारिका एव वृत्ति दोनों के रचयिता कर्णपूर ही सम्पूर्ण ग्रन्थ 10 किरणों में विभक्त है । प्रथम किरण में काव्य की कल्पना पुरूष रूप में करते हुये ध्वनि को उसकी आत्मा निरूपित किया है । तत्पश्चात् काव्य लक्षण, कवि

लक्षण, तथा कवि कर्म की हेतुभूता प्रतिभा का निरूपण किया गया है । इसी के साथ काव्य भेद तथा काव्य प्रकार और काव्य प्रयोजन का वर्णन किया गया है । द्वितीय किरण में शब्दार्थशक्ति का विवेचन है । प्रारंभ में शब्द की उत्पत्ति एवं स्फोटवाद को स्पष्ट करते हुये अनेक मत मतान्तरों का उल्लेख किया गया है । शब्द के भेदों, जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य का स्वरूप निरूपण किया गया है । तत्पश्चात् शब्द की तीनों वृत्तियों का लक्षण तथा उनके भेदोपभेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है । तृतीय किरण में ध्वनि का वर्णन है । इसमें सर्वप्रथम ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति, ध्वनि भेद, आदि का वर्णन किया गया है । चतुर्थ किरण में गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का वर्णन किया गया है । पञ्चम किरण में रस निरूपण किया गया है । सर्वप्रथम भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या के पश्चात् अनुभाव, विभाव, सञ्चारी भाव, स्थायीभाव एवं सात्त्विक भावों का वर्णन किया गया है । इसी के साथ भक्तिरस का पृथक् सौदाहरण निरूपण किया गया है । षष्ठ किरण में गुण का विवेचन किया गया है । गुण का सामान्य लक्षण, गुण भेदो आदि का वर्णन किया गया है । सप्तम किरण में शब्दालङ्क का निरूपण किया गया है । शब्दालङ्कारों के भेदोपभेदों के वर्णन के बाद चित्र-काव्य का भी भेद सहित वर्णन किया गया है । अष्टम किरण में अर्थालङ्कार का वर्णन किया गया है । अन्त में रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि एवं समाहित आदि रसवत् अलङ्कारों का वर्णन किया गया है । नवम किरण में रीति वर्णित है । रीति का लक्षण, और उसके भेदों सहित उसका वर्णन किया गया है । दशम किरण में दोषों को दर्शाया गया है । इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में काव्य के इन दस अङ्गों की विवेचना की गयी है ।

गौरगणोद्देशदीपिका-

गौरगणोद्देशदीपिका चैतन्य सम्प्रदाय की प्रतिनिधि रचना होने के कारण साम्प्रदायिक ग्रन्थ है । इसमें चैतन्य प्रभु तथा उनके परिकरों का पूर्व जन्म में क्या नाम रूप था इन सबका विवेचन किया गया है । विवेच्य कृति से ज्ञात होता है कि चैतन्य प्रभु पूर्व जन्म में कृष्ण थे और चैतन्य के परिकर पूर्व-जन्म में कृष्ण के ही सम्बन्धी थे ।

जो शतयुग में शुभ्रवण तथा शुक्ल नाम को धारण करते हैं जिन्होंने त्रेतायुग में रक्तवर्ण होकर "मखभुक्" संज्ञा धारण की । द्वापर में श्याम वर्ण होकर जो "श्याम" नाम से प्रसिद्ध हुये । वे ही गौररूप से श्री गौराङ्ग नाम से कलियुग में अवतीर्ण हुये । मथुरा में जिन सन्दीपनि मुनि नें कृष्ण को यज्ञसूत्र दिया था वही अब केशवभारती हुये हैं । द्वापर में वृन्दावन में जो अणिमादि अष्ट सिद्धिया थीं उन्होंने कलियुग गौडदेश में चैतन्य प्रभु के भक्त के रूप में जन्म लिया है । पूर्वकाल में कृष्ण के माता-पिता यशोदा-नन्द थे । कलिकाल में उन्होंने चैतन्य के माता-पिता शची तथा जगन्नाथ के रूप में जन्म लिया । परमानन्दपुरी पूर्व जन्म में उद्धव थे । शास्त्र का नियम है कि गुरू के पूर्वनाम का उल्लेख नहीं करना चाहिये इस कारण गौरगणोद्देशदीपिका में कर्णपूर ने गुरू श्रीनाथ के पूर्व नाम का उल्लेख नहीं किया है[1]। भक्त स्वरूप नित्यानन्द पूर्व जन्म में बलराम थे । अद्वेताचार्य सदाशिव थे । इसमें गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अवतारवाद का समर्थन किया गया है ।

वृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका-

इस ग्रन्थ के अप्राप्य होने के कारण इसके विषय में कुछ कहना असम्भव है । केवल नरहरि चक्रवर्ती के "भक्तिरत्नाकर" ग्रन्थ से प्राप्त जानकारी के अनुसार इस ग्रन्थ के कर्णपूर थे[2]। अतः यह कहा जा सकता है कि इसमें भी कृष्ण के परिकर वर्ग का तत्त्व विवेचन किया गया होगा । जैसा कि गौरगणोद्देशदीपिका में गौराङ्ग के पार्षदों का तत्त्व विवेचन वर्णित है ।

श्रीमद्भागवत की व्याख्या-

कर्णपूर की यह रचना भी अप्राप्य है । इसकी सूचना डॉ॰ विमान बिहारी मजूमदार ने दी थी । संभवतः डॉ॰ मजूमदार का यह कथन सत्य भी हो सकता है ।

---

1. गुरोर्नाम न गृह्णीयादिति शास्त्रानुसारतः । श्री श्रीनाथस्य पूर्वाख्या मया न प्रकटीकृता । गौरगणोद्देशदीपिका- 210.

2. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ.-312.

क्यों कि चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीमद्भागवत का विशिष्ट स्थान है । प्राय: सभी गोस्वामियों ने उस पर अपनी टीका सम्प्रदाय के मतानुसार प्रस्तुत की है । कर्णपूर चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध गोस्वामी हैं अत: श्रीमद्भागवत पर उन्होंने भी अपनी व्याख्या लिखी होगी ।

संदिग्ध रचनायें

चमत्कार चन्द्रिका-

हरिदास के सम्पादन में इस खण्ड-काव्य का प्रथम प्रकाशन 1937 ई0 में हुआ । यह खण्डकाव्य बंगलानुवाद सहित बंगाक्षरों में मुद्रित है । ऐशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के पुस्तकालय से प्राप्त होने वाली एक हस्तलिपि में चमत्कार-चन्द्रिका के कर्ता के रूप में कर्णपूर का नामोल्लेख है । ढाका विश्वविद्यालय से प्राप्त होने वाली पांच हस्तलिपियों में चौथी और नवीनतम प्रतीत होने वाली हस्तलिपियों में चमत्कार-चन्द्रिका का रचनाकार कर्णपूर को स्वीकृत किया गया है[1]। इन प्रतिलिपियों के आधार पर ही राजेन्द्र लाल चमत्कार-चन्द्रिका को कर्णपूर कृत मानते हैं । पांचवी हस्तलिपि में कृतिकार के रूप में विश्वनाथ चक्रवर्ती का नाम है । इस आधार पर डॉ0 सुशील कुमा डे का मन्तव्य है कि यह रचना कवि कर्णपूर की नहीं अपितु विश्वनाथ चक्रवर्ती की है[2]। "चैतन्य-चन्द्रिका" में भी आदि से अन्त तक ऐसी कोई प्रामाणिकता नहीं उपलब्ध होती है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि "चैतन्य-चन्द्रिका" कर्णपूर की ही कृति है ।

---

1. Early history of Vaishnava faith & movement -S.K. Dey, p.603
2. वही, पृ. -603.

"चैतन्य-चन्द्रिका" में 226 श्लोक हैं । यह खण्डकाव्य चार कौतूहलों में विभक्त है । इसका विषय राधा-कृष्ण की प्रणयलीला है । यह खण्डकाव्य आदि से लेकर अन्त तक कृष्ण छद्म लीलाओं से पूर्ण है ।

कृष्ण कौतुक-

इसका प्रथम प्रकाशन मथुरा से 1965 ई0 में हुआ । श्रीकृष्णदास नें 400 वर्ष प्राचीन हस्तलिपि के आधार पर इसका संपादन किया है । हस्तलिपि से प्राप्त सूचना के अनुसार इसके प्रणेता परमानन्ददास है । इस नाम के आधार पर ही सम्पादक महोदय ने इसे कवि कर्णपूर की रचना माना है । नाम के आधार पर ही इसे कर्णपूर की रचना कहना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है । क्योंकि चैतन्य-सम्प्रदाय में परमानन्द नामक अनेक व्यक्ति हुये हैं । यथा-परमानन्द भट्टाचार्य, चैतन्यप्रभु के सतीर्थ परमानन्द पुरी तथा नित्यानन्द की सभा के परमानन्द आदि । विवेच्य कृति में मङ्गलाचरण के पश्चात् कृतिकार ने अपनें गुरू श्रीकृष्ण की वन्दना की है ।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह परमानन्द कर्णपूर की रचना नहीं है । यदि यह कर्णपूर की रचना होती तो गुरू श्रीनाथ की वन्दना की गयी होती । अपनीं रचनाओं में कर्णपूर ने गुरू श्रीनाथ की ही स्तुति की है । इन रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में कवि कर्णपूर के नाम से अन्य रचनायें भी उपलब्ध होती हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि यह रचनायें परमानन्ददास कर्णपूर की हैं अथवा कर्णपूर नामक इतर कवियों नें इन ग्रन्थों की रचना की है ।

पारसीक पद प्रकाश-

मुगल सम्राट जहाँगीर के आदेश पर इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी । पंडित सीरीज काशी से प्रकाशित आनन्दवृन्दावन चम्पू के सम्पादक श्री बेचनरामत्रिपाठी

---

1. तप्तकांचन: गौराङ्ग प्रसन्नवदनाम्बुजम् ।
श्रीकृष्णाख्यं गुरूं नित्यं नमामि शिरसा मुदा ।। (कृष्ण कौतुक)

का मत है कि संस्कृतपारसीकपदप्रकाश के रचयिता कवि कर्णपूर हैं । जबकि साक्ष्यों के अनुसार पता चलता है कि संस्कृतपारसीकपदप्रकाश के रचयिता कर्णपूर कामरूपवासी करणवंशज एवं कवीन्द्र कविराज गुणाब्धि के अनुज हैं । अतः यह रचना कवि कर्णपूर की नहीं कही जा सकती है ।

चैतन्य-चन्द्रोदय की प्रतीकात्मकता-

चैतन्य-चन्द्रोदय नाटक का विषय चैतन्य-महाप्रभु के जीवन चरित पर आधारित है । इसमें अमूर्त भावों का मूर्तीकरण या मानवीकरण किया गया है । ये अमूर्त पात्र कलि, अधर्म, काम, क्रोध आदि भावनाओं के प्रतीक या द्योतक है । भौतिक जगत् में मूर्त रूप में इनकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती है । अतः इन नाटकों को "प्रतीक-नाटक" कहा गया है । इन नाटकों का सामान्य नाटको से एक प्रधान वैशिष्ट्य है कि सामान्य नाटकों के पात्र भौतिक जगत् के स्त्री-पुरूष आदि अथवा जगत् के देवी-देवता आदि होते हैं । जबकि इन नाटकों के पात्र अमूर्त, ऐतिहासिक एवं पौराणिक मानवीय भावनायें होती हैं । रसाभिव्यञ्जन के हेतु ये भावनायें मानव पात्रों की भूमिका में प्रस्तुत की जाती है ।

अमूर्त पात्रों की विशिष्टता से युक्त इन प्रतीक नाटकों का उद्भव और विकास क्या हैं? इस पर विचार करना भी आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी हो जाता है ।

साहित्य में लक्षण ग्रन्थों और लक्ष्य ग्रन्थों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों परस्पर एक दूसरे के सहयोगी बनकर साहित्य की समृद्धि में अपना योगदान देते हैं। यद्यपि साहित्य के आदि विधायक लक्ष्य ग्रन्थ काव्य नाटकादि ही हैं । किन्तु वे जहाँ एक ओर लक्षण ग्रन्थों को प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ उनके द्वारा नियंत्रित भी होते हैं । लक्ष्य ग्रन्थो में रचयिता की उच्छृङ्खलता पर अङ्कुश रखने के लिये ही लक्षण ग्रन्थों की रचना हुयी । ये लक्षण ग्रन्थ स्वयं भी अपने पूर्व के लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं और उनके आदर्शों को मान बनाकर लिखे गये तथा उन्हीं "मानो" को भावी

काव्यों या नाटकों की पूर्णता का निकषोपल घोषित किया गया । बाल्मीकि, व्यास आदि पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों नें ही परवर्ती भामह आदि को अलङ्कार विभाजन का मार्ग दर्शाया । संस्कृत का नाट्यशास्त्र भी संस्कृत नाटक की समृद्धि का साक्षी है । यहीं से नाटक की उत्पत्ति हुयी ।

इन नाटकों का प्रादुर्भाव वेदों की प्राचीनता की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है । इसकी सिद्धि इसी तथ्य से हो जाती है, जब ब्रह्मा ने देवताओं द्वारा चारो वेदों के अतिरिक्त लोगों के मनोरंजन के लिये एक नूतन वेद की रचना के लिये प्रार्थना करने पर, ऋग्वेद से पाठ्य तत्त्व, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्य नामक पञ्चम वेद की रचना की[1] । अतः नाटकों की उत्पत्ति से पूर्व वेदों का स्थान था, जो नाटकों से बहुत प्राचीन है । वेद ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिससे काव्य की समस्त विधाओं ने अपना मार्ग दर्शन कर अपनी परम्परा को आगे बढ़ाया । संस्कृत साहित्य के समस्त काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य, रूपक, उपरूपक और प्रतीकात्मक नाटकों की प्रेरणा इन वेदों से ही मिली है[2] । जो आगे चलकर एक विस्तृत और स्वतन्त्र विधा बन सकी है ।

प्राचीन शास्त्रकारों ने संस्कृत साहित्य को दो महत्वपूर्ण भागों में विभक्त किया है ।-- श्रव्य और दृश्य[3] । जिन काव्यों को पढ़कर या सुनकर ही रसानुभूति की जा सकती है वे श्रव्य काव्य कहलाते हैं और जिन काव्यों को देखकर ही रसानुभूति होती है वे दृश्यकाव्य कहलाते हैं । यद्यपि ये दृश्यकाव्य पढ़े अथवा सुने भी जा सकते हैं परन्तु इनसे पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं होती । इसके लिये इनका दृश्य होना अनिव है । ये दृश्यकाव्य ही नाट्य कहलाते हैं और नाट्य के अभिनय के लिये रामादि का कार्य रङ्गमञ्च पर पात्र करते हैं । अभिनेता अपने में रामादि का आरोप कर लेते हैं,

---

1. जग्राह्य पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। नाट्य शास्त्र, 1/16-17.

2. उलूकं यातु शुशुलयातुंजहिश्वयातुमुतकोकयातुम् ।

इसी आरोप को हम दृश्यकाव्य का प्रमुख लक्षण मानकर इसे रूपक भी कहते हैं ।[1]

संस्कृत नाट्यशास्त्रीय इस रूपक या दृश्यकाव्य के भी दो भेद करते हैं-- रूपक तथा उपरूपक । इन रूपकों को वस्तु, नेता तथा रस की दृष्टि से दस तथा उपरूपकों को बीस भागों में विभक्त किया गया है--

रूपक-[2]

1- नाटक	4- प्रहसन	7- समवकार	10- ईहामृग ।
2- प्रकरण	5- डिम	8- वीथी	
3- भाण	6- व्यायोग	9- अङ्क	

उपरूपक-[3]

1- तोटक	6- डोम्बी	11- काव्य	16- हल्लीस
2- नाटिका	7- श्रीगदित	12- प्रेक्षण	17- दुर्मल्लिका
3- गोष्ठी	8- भाण	13- नाट्यरासक	18- कल्पवल्ली
4- सल्लाप	9- भाणी	14- रासक	19- मल्लिका
5- शिल्पक	10- प्रस्थान	15- उल्लोप्य	20- परिजात

---

1. रूपकं तत्समारोपात्- दशरूपक, 1/7.
2. नाटकमथ प्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
   व्यायोग समवकारौ वीथ्यङ्के हामृगा इति ।। दशरूपक, पृ. -66.
3. तोटकं नाटिका गोष्ठी शिल्पकस्तथा ।
   डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानमेव च ।।
   काव्यञ्च प्रेक्षणं नाट्यरासकं रासकं तथा ।।
   उल्लोप्यकञ्ज हल्लीसकमथ दुर्मल्लिकाऽपि च ।।

परन्तु कुछ नाट्यशास्त्रीय इन बीस उपरूपकों में से नाटिका और भाण को उपरूपक न मानकर इससे अलग मानते हैं तथा उपरूपकों की संख्या अठारह मानते हैं ।

रूपकों का वर्णन करते समय रूपकात्मक नाटकों का वर्णन करना आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी है । हमारे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय "चैतन्य-चन्द्रोदय" नाटक भी इसी रूपकात्मक नाटक की कोटि में आता है । रूपकात्मक नाटक वे कहे जाते हैं जो रूपकों से भिन्नता न रखते हुये भी अपनी किसी प्रमुख विशेषता के कारण "रूपकात्मक नाटक" की संज्ञा को स्वीकार करते हैं । इनकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि ये सामान्य नाटक के समस्त लक्षणों को धारण करते हुये भी उसका प्रमुख लक्षण मूर्त पात्रों की उपयोगिता के स्थान पर अमूर्त पात्रों की उपयोगिता को महत्व देते हैं। तथा अपने नाटकों में अमूर्त गुणों एवं भावों को ही पात्र के रूप में मञ्च पर उपस्थित करते हैं । इन अमूर्त पात्रों के साथ-साथ कभी-कभी मूर्त पात्रों का योग भी देखा जाता है । साधारण नाटक के लक्षण से इनमें किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं मिलता है । साधारण नाटक के समान ही इसमें भी कथानक का प्रवाह वैसा ही रहता है । इसीलिये नाट्य के लक्षणकर्ताओं नें इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है, अपितु इस प्रकार के रूपकों को "प्रतीक नाटक" ‹Allegorical drama› की संज्ञा दी[1]।

प्रतीक शैली के नाटकों के प्रणयन की संस्कृत वाङ्मय में एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है । इस शैली को नाट्यकृति में रूपायित करने का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास महाकवि अश्वघोष ने किया । यद्यपि अश्वघोष की वह कृति पूर्णता में नहीं प्राप्त

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रथम सं., 1947, पृ. -555.

हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, पृ. - 222-223.

- Allegory = A figurative representation conv?ying a meaning other than and in addition to literal
- Encylopaedia Britanica, Vol.V. p.645.

होती लेकिन उसकी तत्काय खण्डित प्रति जो उपलब्ध होती है उस पर विचार करके निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि नाटकों में प्रतीक शैली के प्रथम प्रयोग का श्रेय महाकवि अश्वघोष को है । इस परम्परा का पूर्ण विकास ग्यारहवीं शती के मध्य में कृष्ण मिश्र लिखित "प्रबोधचन्द्रोदय" मे होता है जो प्रथम सर्वोपलब्ध और पूर्ण कृति है । इसके बाद से तो प्रतीक नाटकों के प्रणयन की होड़ सी लग गयी । नाटककारों का एक पूरा वर्ग ही इस क्षेत्र मे रत हो गया । परिणामस्वरूप मोहपराजय, संकल्प-सूर्योदय, अमृतोदय, चैतन्यचन्द्रोदय, विद्यापरिणय, जीवन-मुक्ति-कल्याण आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ इस काल में प्रणीत हुयी ।

इन समस्त नाटकों का प्रथम उद्देश्य जनता के मध्य सच्चरित्रता और उदात्त भावनाओ को प्रतिष्ठित करना है । ये प्रतीक-नाटक अधिकांशतः दार्शनिक हैं, इनमें चरित्रों के माध्यम से किसी न किसी दार्शनिक समस्या को सुलझाने तथा किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना का प्रयास किया गया है । इनके अधिकांश चरित्र अमूर्त हैं और नाटककारों ने अपनी भावपूर्णता और सृजनशीलता से उन्हें सजीव और जीवन्त बनाने की प्रशंसात्मक चेष्टा की है । ये सभी अमूर्त पात्र वस्तुतः अमूर्त लगते नहीं हैं । रङ्गमञ्च पर इनकी प्रस्तुति लौकिक नाटक के चरित्रों के सदृश ही होती है । रङ्गमञ्च पर वे लौकिक चरित्रों की भाँति रोते-हँसते और वार्तालाप करते हैं ।

कवि कर्णपूर कृत चैतन्यचन्द्रोदय में भी प्रतीकात्मकता के साथ-साथ पौराणिकपन और चारित्रिक प्रधानता विद्यमान है । महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिये यह नाटक बड़ा ही प्रामाणिक और उपादेय है । इसमें महाप्रभु की दार्शनिक दृष्टिकोणों सहित उनकी लीलाओं का भी सुष्ठु समावेश है ।

इस प्रकार नाट्य की यह धारा बड़ी रोचक एव महत्व पूर्ण प्रतीत होती है । दर्शन के तत्त्वों तथा दार्शनिक मतवादों के विकास क्रम की यह साहित्यिक तथा कलात्मक झाँकी थी । कदाचित् इसी कारण यह नाट्य धारा संस्कृत वाङ्मय में पिछले एक सहस्राब्दी से अविच्छन्न रूप से प्रवहमान होती हुयी सहृदयों के हृदयों को ओत-प्रोत सी करती आ रही है ।

द्वितीय-अध्याय

द्वितीय-अध्याय

चैतन्य-चन्द्रोदय का कथानक तथा कथानक का औचित्य

कथानक पृष्ठभूमि-

इस नाटक की कथावस्तु महाप्रभु चैतन्य स्वामी का जीवनवृत्त है । जिसे कवि ने स्वयं अंशत: देखा तथा अंशत: प्रमाणभूत भक्तों के मुख से सुना था[1]। इसमें चैतन्य-महाप्रभु की आद्यन्त चरितगाथा उनके अवतार ग्रहण करने से लेकर मथुरागमन तक का चित्रण किया गया है । दिवङ्गत चैतन्य के विह्वल भक्त उनका प्रत्यक्ष कर सकें इस उद्देश्य से प्रस्तुत नाटक का नाट्यकार द्वारा प्रणयन किया गया है ।

कथानक

सूत्रधार विज्ञप्ति-

ग्रन्थ के प्रारम्भ में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करते ही घोषणा करता है कि पूर्णानन्द का वातावरण उपस्थित होने पर भी भगवान् कृष्ण चैतन्य के तिरोभाव से दु:खी, आनन्द के प्रति भी उदासीन महाराज गजपति प्रतापरूद्र के आदेश से इस समय चैतन्य-महाप्रभु के गुणों को प्रकाशित करने वाला "चैतन्य-चन्द्रोदय" नाटक का अभिनय करूँगा । यह "चैतन्यचन्द्रोदय" भगवान् के प्रिय पार्षद शिवानन्द सेन के पुत्र "परमानन्ददास" की कृति है । "कृष्ण-नाम-सङ्कीर्तन" ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । तत्पश्चात् सूत्रधार चैतन्य के अवतार-ग्रहण की महिमा का वर्णन करता है । जिनके आविर्भाव मात्र से ही कलियुग कृतार्थ हो जाता है । इसी बीच नेपथ्य से ध्वनि सुनकर सूत्रधार कलि और अधर्म इधर ही आ रहे है ऐसा अनुमान करके प्रस्थान करता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय भूमिका- पृ. -3.

कलि तथा अधर्म की वार्ता-

सूत्रधार द्वारा कथित वचनों से अधर्म क्रुद्ध होता है । जिसे कलि समझाते हुये कहता है कि मित्र इसकी निन्दा मत करो, वह समय बीत गया, इस बालक {चैतन्य} ने हमारा प्रभाव उसी तरह समाप्त कर दिया है जैसे महौषध के अङ्कुर-निर्गम से तक्षक-नाग का प्रभाव समाप्त हो जाता है । यह केवल ब्राह्मण बालक नहीं है, अपितु बालरूप देवाधिदेव हैं । समस्त विश्व को पवित्र करने वाले इस सुवर्णकान्ति बालक के रूप में भगवान् ही ब्राह्मणावेश में अवतीर्ण हुये है । इनके साथी अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, श्रीकान्त, श्रीपति, श्रीवास, आदि पूर्वावतारों के पार्षद भी इस संसार के उद्धारार्थ भूमण्डल पर अवतरित हो चुके है । बाल्यावस्था मे ही इनमें गाम्भीर्य, धैर्य, स्मृति, मति, रति, विद्या, माधुरी, स्निग्धता आदि गुणों का समावेश हो चुका है । युवावस्था के प्रारम्भ में ही इन्होने लक्ष्मी के सदृश पत्नी का परित्याग कर दिया और गया जाकर स्वेच्छा से पितृ श्राद्ध किया । जहाँ संयोगवश उन्हे सन्यासिराट् ईश्वरपुरी के दर्शन होते हैं । चैतन्य उन्हें अपना गुरू बनाकर उनसे माधवपुरी के दशावर्ती दशाक्षर मन्त्र की दीक्षा लेते हैं । इसके बाद नेपथ्य से होने वाली कलकल ध्वनि से कलि सद्यः सम्प्राप्त श्रीवास के प्राङ्गण में होने वाले चैतन्य-प्रभु के महाभिषेकोत्सव का अनुमान करता है ।

चैतन्य का महाभिषेकोत्सव-

कलि अधर्म को बताता है कि अभिषेकोत्सव के लिये चैतन्य भगवान् के मंदिर में शालग्राम के रहने के लिये रखे गये पलङ्ग पर बैठ गये हैं और वहाँ उपस्थित जनसमूह आनन्द विभोर हो रहा है । सभी सेवक रोमाञ्चित होकर पूजा-सामग्री एकत्र कर रहे हैं । स्त्रियाँ मङ्गल-घट हाथ में लिये खड़ी है । जिनके जल से चैतन्य को स्नान कराया गया और उन्हें वस्त्र पहनाये गये । अभिषेकोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर समस्त भक्त उनके दर्शनार्थ यहाँ आवेगें ऐसा विचार करके दोनों निकल जाते हैं । इसी

के साथ विष्कम्भक समाप्त हो जाता है । तदनन्तर रङ्गमंच पर विश्वंभर और अद्वैत आदि उपस्थित होकर दार्शनिक दृष्टिकोण से भक्ति-रस तथा कृष्ण के द्विभुज रूप का महात्म्य प्रतिपादित करते हैं । श्रीवास मृत्यु से पूर्व की अपनी कथा सुनाता है । फिर चैतन्य मुरारि की भक्तिहीनता और मुकुन्द की चतुर्भुज परायणता का निरूपण करते हैं । चैतन्य के इस अलौकिक रूप को देखकर शची देवी का उनके प्रति पुत्रभाव नष्ट हो जाता है । अद्वैत, श्रीवास आदि के अनुरोध पर चैतन्य अपने अलौकिक रूप का परिहार करके पुनः लौकिक रूप में आ जाते हैं । इसके बाद सब भगवान् श्रीकृष्ण का कीर्त्तन करने आ जाते है ।

विराग द्वारा सामाजिक स्थिति का वर्णन-

कलियुग से प्रभावित युग में विराग अपनें बन्धु-बान्धवों को समक्ष न पाकर चारों ओर व्याप्त समाज की दुर्व्यवस्था पर खेद प्रकट करता है । जिसमें यज्ञोपवीत धारण करने वाले ब्राह्मण मात्र अध्यापन का कार्य करते हैं । क्षत्रिय नाममात्र के हैं, वैश्य बौद्ध के सदृश हो गये है । शूद्र अपने को पण्डित समझकर उपदेश देनेकाकार्य करने लगे हैं । आश्रम-व्यवस्था का कोई आधार नहीं रह गया है । ब्रह्मचारी इसलिये हैं कि उनमें विवाह की योग्यता नहीं है । गृहस्थ केवल स्त्री-पुत्र के उदर पोषण में व्यस्त है, वानप्रस्थ मात्र कर्णप्रिय रह गया है, और संन्यासी केवल आकार-प्रकार से ही संन्यासी है । इस प्रकार के सांसारिक वैषम्य को देखकर विराग अत्यन्त दुःखी है ।

चैतन्य का सर्वावतार दर्शन-

दुःखी विराग को भक्तिदेवी मिलती है जो उसे चैतन्य-प्रभु की महिमा का ऐश्वर्य बताती है कि हमारे ही लिये तो महादयालु, संसार-बन्धच्छेदक भगवान् गौरचन्द्र अवतीर्ण हुये हैं । प्रभु जाति, शील, आश्रम, धर्म, विद्या, कुल आदि की अपेक्षा नहीं करते । उनके यहाँ पात्र अपात्र की कोई व्यवस्था नही है । महाप्रभु अनेक अवतार धारण करने वाले हैं । उन्होंने भक्तों के समक्ष बलराम, सङ्कर्षण, बुद्ध, वराह, नृसिंह

आदि मुख्य अवतारों का अनुकरण किया तथा एक दिन दयालुतावश उन्होने नित्यानन्द को अपना षड्भुज स्वरूप भी दिखाया । चैतन्य के ऐश्वर्य वेश वर्णन के पश्चात् भक्तिदेवी उनके प्रेमावेश की भी कथा सुनाती है । एक बार महान् आनन्द से परवश प्रभु आचार्य-रत्न के आगे नृत्य कर अपने घर की ओर लौट रहे थे, मार्ग में निजजनोपकारी प्रभु को किसी गरीब ब्राह्मण ने देखा, उसका सम्पूर्ण शरीर गल गया था, जिसे प्रभु ने पलभर में नीरोग कर दिया । इस प्रकार प्रभु का वर्णन करके भक्तिदेवी विराग को प्रभु सरक्षण मे ले जाने के लिये प्रस्थान करती है । तत्पश्चात् अद्वैत, श्रीवासादि के साथ चैतन्य-प्रभु प्रवेश करते हैं । तथा अद्वैत को स्नेहवश अपना विष्णु स्वरूप दिखाते है । फिर वे सब लोग चैतन्य की माता शची देवी की रसोईं में भोजन के लिये प्रस्तुत होते हैं ।

चैतन्य का लीला प्रकटन-

मैत्री एवं प्रेमभक्ति के प्रारम्भिक वार्तालाप में प्रेमभक्ति विवेक, मैत्री इत्यादि की प्रतीकात्मक वंशावलि का निरूपण करती है । तत्पश्चात् मैत्री को समस्त अवतारों की लीलायें सम्पन्न कर लेने के बाद चैतन्य के राधानुकरण के विषय में बताती है । जिसका प्रकटन अद्वैत के प्राङ्गण में किया जाता है । इसमें अद्वैत ईश की, हरिदास सूत्रधार की, मुकुन्द परिपार्श्विक की, नित्यानन्द योगमाया की, तथा श्रीवास नारद की भूमिका करते हैं ।

चैतन्य दानलीला के अभिनय के लिये और लोगों के हृदय में राधाभाव जगाने के लिये स्वयं को राधाभाव में प्रकट करते हैं । इस लीला का प्रकटन प्रस्तुत नाटक में गर्भाङ्क के माध्यम से किया गया है । नान्दीगान और सूत्रधार-विज्ञप्ति के पश्चात् हाथ में पूजोपकरण की सामग्री लिये हुये पुष्पचयन हेतु राधा तथा उसकी सखियों का वृन्दावन में प्रवेश होता है । कृष्ण अपने मित्रो के साथ कुञ्ज में छिपकर यह दृश्य देखते है । तभी पूजा के लिये लवङ्ग कुसुम को चुनती हुयी राधा एक दुष्ट भ्रमर से पीड़ित हो जाती है । कृष्ण प्रत्यक्ष होकर भ्रमर से उसकी रक्षा करते हैं और राधा तथा उसकी

सखियों को पुष्प तोड़ने से मना करते हैं । जिसके फलस्वरूप उनके मध्य कुछ तर्क-वितर्क होता है । इसी बीच राधा कृष्ण में आसक्त हो जाती है । अन्त में तर्क के विवाद से बचने के लिये योगमाया राधा को अन्तर्हित कर स्वयं अन्तर्ध्यान हो जाती है । इसका पर्यवसान आनन्द की पराकाष्ठा में होता है । और नित्यानन्द स्वरूपतः नृत्य करते रह जाते हैं ।

चैतन्य का अदृश्य-गमन-

शची देवी चैतन्य की साधु-संन्यासियों के प्रति आसक्ति से अत्यधिक चिंतित है । तभी श्रीवास के प्राङ्गण में भगवत्साङ्कीर्तन का आयोजन किया जाता है । इसमें चैतन्य के सभी मित्रगण नृत्य करते हैं, स्वयं चैतन्य भी विभोर होकर नृत्य में तत्पर हो जाते हैं । रात्रि पर्यन्त समस्त दर्शक एवं भक्त परमानन्द की प्राप्ति करते हैं । निशावसान की अन्तिम बेला में नृत्य से श्रान्त समस्त मित्रगणों के निद्रामग्न हो जाने पर अचानक शीघ्रगामी चैतन्य संसार त्याग के लिए चुपचाप आचार्यरत्न और नित्यानन्द को लेकर चले जाते हैं ।

चैतन्य के अन्वेषणार्थ उनके साथियों का आगमन-

चैतन्य के अचानक अदृश्य गमन से सभी मित्रगण तथा भक्त चिन्तित हो जाते हैं तथा करूण विलाप करते हुये सर्वत्र उन्हें खोजने का प्रयास करते हैं । तथापि उनके विषय में कोई सूचना न पाकर व्यथित हृदय वे मूर्च्छावस्था को प्राप्त हो जाते हैं । चैतन्य के अभाव में प्राणों को धिक्कारते हुये उसे उनके समीप चले जाने को कहते हैं । तभी उन्हें पता चलता है कि चैतन्य के साथ नित्यानन्द तथा आचार्यरत्न भी गये हैं । इसी मध्य नेपथ्य से किसी के आर्त्त स्वर को सुनकर आचार्यरत्न के आगमन का अनुमान करते हैं । तभी आचार्यरत्न प्रवेश करते है और दुःखित हृदय से विलाप करते हुये चैतन्य के सन्यास-ग्रहण के विषय में सबको बताते हैं ।

चैतन्य का संन्यास-ग्रहण-

चैतन्य गङ्गापार करके "काटोआ" ग्राम जाकर वहाँ केशवभारती नामक यतीन्द्र से चतुर्थ आश्रम सन्यास की दीक्षा लेते हैं और अपनें समस्त वस्त्रों को मात्र कौपीन को छोड़कर त्यागकर बालों को मुड़वा लेते हैं । तत्पश्चात् अपना नाम भी सन्यासाश्रम के अनुसार बदलकर "कृष्णचैतन्य" रख लेते हैं । अद्वैत श्रीवास प्रभृति चैतन्य के संन्यास-ग्रहण के विषय में जानकर उनकी माता शची देवी को आश्वस्त करने के लिये जाने की योजना बनाते हैं ।

चैतन्य का आनन्दोन्माद-

सन्यास-ग्रहण करने के पश्चात् चैतन्य का आनन्द-सागर अन्तर्वेग को प्राप्त हो जाता है । वह प्रबल वायु से चालित केशर पराग पुंज के समान उड़ते हुये चलने लगे, समस्त इन्द्रियाँ विरत हो गयीं, निरूद्देश्य भाव से चलते जाते, मार्ग अथवा अमार्ग का इन्हें ज्ञान नहीं रह गया, उन्मुक्त भाव से वन्य हस्ती की भांति चलते ही जाते हैं । प्रेमावेश में नाचते गाते अश्रुप्रवाहित करते तथा ईश्वर के चरणों की सेवा प्राप्त करने का सा भाव लेकर रोमाञ्चित हो जाते हैं । कुछ बालकों के हरि-हरि कहने पर वे कृष्णप्रेम में विह्वल हो जाते हैं और वृन्दावन की ओर चल पड़ते हैं ।

चैतन्य का अद्वैतपुर विलास-

कृष्ण चैतन्य की इस आनन्दोन्माद की स्थिति देखकर नित्यानन्द उन्हें वृन्दावन मार्ग के बहाने अद्वैत के घर ले आते हैं । मार्ग में पड़ने वाली गंगा नदी को यमुना नदी कहकर आनन्दोन्मत्त चैतन्य से उसकी स्तुति करवाते हैं । तथा अद्वैत आदि को कृष्णचैतन्य के आगमन की सूचना देकर बुलवाते हैं । तत्पश्चात् चैतन्य नित्यानन्द की प्रार्थना से सर्वप्रथम अद्वैत के घर भिक्षा ग्रहण करने जाते हैं । अद्वैतपुर में कृष्णचैतन्य

के आगमन का समाचार सुनकर चारों तरफ से लोग उनके दर्शन को उमड़ पड़ते हैं । चैतन्य लोगों को अपना दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं । तथा अपने दर्शन से अपनी माता शची देवी को भी आश्वस्त करते हैं । उसके बाद बन्धुजनों के आग्रह के कारण कृष्ण-चैतन्य कुछ दिन अद्वैतपुर में ही रहकर अपनी माता तथा बान्धवगणों की आज्ञा लेकर जगन्नाथपुरी की ओर रवाना होते हैं । नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर तथा मुकुन्द भी चैतन्य का अनुसरण करते हैं । चैतन्य जगन्नाथपुरी पहले वनमार्ग फिर राज-मार्ग से गये । राजमार्ग से जाते हुये रेमुणा में कृष्णमूर्ति की चैतन्य ने स्तुति की । कटक राजधानी में साक्षी गोपाल का दर्शन किया । तत्पश्चात् चैतन्य नीलाचन्द्र जगन्नाथ के दर्शनार्थ जाते हैं । वहाँ चैतन्य की ईश्वरता के सम्बन्ध में गोपीनाथ एवं सार्वभौम-भट्टाचार्या के शिष्यों के मध्य शास्त्रार्थ होता है । इसके बाद चैतन्य श्री जगन्नाथ स्वामी की शयनोत्थान लीला को देखते हैं ।

चैतन्य का सार्वभौमानुग्रह-

कृष्णचैतन्य श्री जगन्नाथ स्वामी की शयनोत्थान लीला देखने के पश्चात् प्रसाद प्राप्त करके सीधे सार्वभौम के गृह जाते है । वहाँ सोये हुये सार्वभौम को जगाकर सर्वप्रथम उन्हें जगन्नाथ स्वामी का प्रसाद खिलाते हैं । जिसे खाते ही सार्वभौम प्रसाद के प्रभाव से कर्कश वेदान्ती से परिवर्तित होकर रसमयी भक्ति के साधक हो गये ।

चैतन्य का तीर्थाटन-

जगन्नाथपुरी से चैतन्य दक्षिण-भारत की ओर प्रस्थान करते हैं । ब्राह्मणों को साथ लेकर वह कूर्मक्षेत्र पहुँचे, वहाँ उन्होंने कूर्मदेव को प्रणाम किया और कूर्म नामक ब्राह्मण के घर भिक्षा ग्रहण की । वहीं पर वासुदेव नामक गलत्कुष्ठी ब्राह्मण को उन्होंने अपने गले लगाया, जिससे उसका शरीर सद्यः अति सुन्दर हो गया । कूर्मक्षेत्र से आगे बढ़कर नृसिंह क्षेत्र जाकर चैतन्य ने नृसिंह भगवान् की स्तुति की । वहीं से चैतन्य गोदाव

तट पर पहुँचे जहाँ रामानन्द राय उनसे मिले । रामानन्द परम वैष्णव थे । चैतन्य का उनके साथ भक्तिविषयक विवाद हुआ । जिसकी सूचना विप्रों के माध्यम से दी गयी है । इसके बाद दौवारिक आकर, कर्णाटक देश के राजा का उपहार लेकर आये हुये उनके अमात्य मल्लभट्ट की सूचना देता है । मल्लभट्ट भी चैतन्य के गौरवशाली चरित्रों की प्रशंसा करता है और उनकी महानता के विषय में एक घटना का वर्णन करता है कि एक बार कुछ पाखण्डी ब्राह्मणों ने चैतन्य को भगवान् के प्रसाद के नाम से अपवित्र भोजन खिलाना चाहा, किन्तु चैतन्य सर्वज्ञ होने के कारण अपवित्र भोजन से युक्त पात्र को ऊपर उठा देते है, जिसे कोई पक्षी लेकर उड़ जाता है । इसी बीच अनेक तीर्थों का भ्रमण करके चैतन्य देव कटक पधारते हैं ।

चैतन्य का प्रतापरूद्रानुग्रह-

तीर्थ पर जाते हुये मार्ग में चैतन्य ने भक्तों के सन्देहों को समय-समय पर दूर किया । एक दिन सार्वभौम भट्टाचार्य ने चैतन्य से कहा कि राजा प्रतापरूद्र आपके चरणों के दर्शनाभिलाषी है । यह सुनकर चैतन्य ने उनसे न मिलने की अपनी इच्छा प्रकट करते हुये कहा कि विषयी पुरूष तथा स्त्रियों का दर्शन तो विष भक्षण से भी बुरा है । राजा दृढ़ प्रतिज्ञ था उसने सोचा यदि प्रभु कृपा नहीं करेगें तो मैं जीवनधारण नहीं करूँगा । उसने प्रतिज्ञा की कि या तो मैं चैतन्य-प्रभु के चरणों के दर्शन प्राप्त करूँगा अथवा अपने प्राणों का त्याग करूँगा । राजा की इस प्रकार की दृढ़ता देखकर सार्वभौम ने एक उपाय राजा को बताया कि रथयात्रा का उत्सव समीप ही है, उस समय आप राजवेष त्याग कर, छिपकर नृत्य से श्रान्त चैतन्य-प्रभु को निर्जीव उद्यान में देख लें । उत्सव आने पर रथयात्रा के अनन्तर यथा समय जब चैतन्य आनन्दावेश में नेत्रों को बन्द किये हुये थे तभी राजा तपस्वी भेष में आकर चैतन्य-प्रभु के पैर पकड़ लेते हैं । चैतन्य भी बिना देखे ही नेत्रों को बन्द किये हुये राजा का आलिङ्गन कर लेते हैं ।

चैतन्य का मथुरागमन-

कटक से चैतन्य मथुरा के लिये प्रस्थान करते हैं । मार्ग में चैतन्य के समीप आया हुआ एक दुष्ट यवन उनका परम भक्त बनकर सहायक सिद्ध होता है । चैतन्य नाव द्वारा गंगा नदी पार करके कुमारहाट जाते हैं । वहाँ से श्रीवास के गृह में ठहरते हैं । तत्पश्चात् चैतन्य शिवानन्द सेन के गृह भी जाते हैं । वहाँ से वासुदेव के गृह होते हुये अद्वैत के गृह पधारते है । इसके बाद नाव द्वारा चैतन्य नवद्वीप के पार कुलियाग्राम में माधवदास के घर जाते हैं । यहाँ वे कुछ दिन विश्राम करते हैं ।

चैतन्य की वृन्दावन में अनुराग विह्वलता-

मथुरा से लौटकर चैतन्य वृन्दावन की शोभा देखते हैं । यमुना तट के कुञ्जों में लीलायें करते है । गोवर्धन पर्वत के वनों में जाते हैं, जहाँ उनका मन रम गया । कभी तो चैतन्य यमुना तटवर्ती कानन की शोभा देखते हुये अनुरागवश मुक्तकण्ठ होकर विलाप करने लगते तथा रमणीय भुजदण्डों को फैलाकर प्रत्येक लताओं तथा वृक्षों का आलिङ्गन करने लगते हैं । कभी मतवाले मयूरों के कण्ठ की कान्ति को देखकर भूमि परगिर पड़ते हैं, लोटने लगते है, चिल्लाने लगते हैं, काँपने तथा भागने लगते हैं तथा विषाद का अनुभव करके मूर्च्छित हो जाते है । इस अवस्था में उनके मुख से निकले फेन को हरिणगण चाटने लगते है । उनकी आँखो से बहती अश्रुधारा को पक्षिगण पीने लगते हैं । चैतन्य के विलाप के साथ ही लतायें तथा वृक्ष भी रोते हुये से प्रतीत होते हैं । चैतन्य की इस विषम स्थिति को देखकर पुण्यशाली बलभद्र, भट्टाचार्या प्रभृति उन्हे बलपूर्वक वृन्दावन से बाहर ले आते है । इस कारण चैतन्य वृन्दावन में अधिक समय व्यतीत नहीं कर सके ।

चैतन्य का वाराणसी होते हुये पुरी आगमन-

वृन्दावन से चैतन्य वाराणसी पहुँचे, वहाँ उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया । वाराणसी में ही चैतन्य को रूपगोस्वामी के बड़े भाई सनातन गोस्वामी

मिलते हैं । चैतन्य वृन्दावन की लुप्तप्राय हो रही केलि वार्त्ताओं को प्रख्यात करने के लिये रूपगोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी को अपने कृपारूप अमृत से अभिषिक्त करते हैं । तत्पश्चात् चैतन्य जगन्नाथपुरी वापस आ जाते हैं ।

शिवानन्द सेन की उदारता-

जगन्नाथपुरी में गुण्डिचा यात्रा सन्निकट आने पर विष्कम्भक के अन्तर्गत कोई वैदेशिक प्रवेश करता है और गुण्डिचा यात्रा के दौरान चैतन्य के दर्शन की इच्छा व्यक्त करता है । इस यात्रा में यात्रियों के अभिभावक बनकर शिवानन्द नाम के एक भक्त जाते हैं,ऐसा जानकर उनसे मिलने की इच्छा से अद्वैत के सेवक गन्धर्व से उनके विषय में पूछता है । गन्धर्व शिवानन्दसेन की उदारता के बारे में बताते हुये एक घटना का वर्णन करता है कि एक बार हजारों आदमी रथोत्सव में जा रहे थे, उनमें एक कुत्ता भी रथयात्रा में जाने की प्रबल इच्छा से शिवानन्द के साथ ही चल रहा था । शिवा-नन्द सेन उस कुत्ते को साथ-साथ चलते देखकर उसकी भी खोज-खबर रखने लगे । मार्ग मे नदी पड़ने पर शिवानन्द उस कुत्ते को भी उचित खेवा (पैसा) देकर नदी पार ले गये । रथयात्रा के दौरान उस कुत्ते ने भी शिवानन्द सेन की उदारता के कारण ही चैतन्य का दर्शन प्राप्त किया ।

करने के बाद सिंहासन, दीवारों आदि को धोकर आङ्गन की सफाई करते हैं। तत्पश्चात् भगवान् का कीर्त्तन प्रारम्भ होता है। चैतन्य कुछ देर तक मधुर नृत्य करने के बाद तीन रथ सजवाते हैं। विशेषकर श्री जगन्नाथ स्वामी रथ-जिसकी छवि उसमें लटकते हुये हजारों दर्पणों से बढ़ रही है और जो रमणीय चामर समुदाय से अलङ्कृत है। उसके बाद श्री जगन्नाथ स्वामी के रथ पर आरूढ़ हो जाने पर चैतन्य भी रथ के पथ पर पहुँच कर नृत्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। चैतन्य कभी तो मृगराज की तरह तड़प उठते हैं, कभी मत्त गजराज की भाँति दौड़ पड़ते हैं और कभी आनन्द की तरङ्ग में क्षणभर के लिये आजात्-चक्र की तरह घूमने लगते हैं। इस प्रकार नृत्य करते हुये चैतन्य आगे बढ़ते जाते है। गुण्डिचा-मण्डप आने पर श्री जगन्नाथ जी मन्दिर में चले जाते हैं और चैतन्य उद्यान में चले जाते हैं।

भगवती श्री की प्रयाण यात्रा-

श्री जगन्नाथ स्वामी की रथयात्रा के अनन्तर भगवती श्री की प्रयाण यात्रा का आयोजन होता है। जिसमें लक्ष्मी का कोप प्रयाण दिखाया गया है। लक्ष्मी स्वयं अपने ऐश्वर्य को प्रख्यापित करने वाली नाना प्रकार की दिव्य सजावटों के साथ जगन्नाथ प्रभु की परिक्रमा करती है। धूपों का धूम प्रत्येक दिशा में व्याप्त होकर मेघ सदृश प्रतीत हो रहा है। उजले तोरणों की पंक्ति बगुलों की श्रेणी सी लगती है। रम्भा आदि गणिकायें नृत्य प्रस्तुत कर रही हैं। सुवर्ण एवं मणि निर्मित चतुरस्र यान पर आरूढ़ लक्ष्मी क्रोधान्ध होकर अपने पिता के बल पर अपना दर्प प्रकट करती है। लक्ष्मी के दर्प से उसकी दासियाँ भी गर्व से गर्वान्ध होकर चैतन्य के मुख्य अनुचरों को डोंड़ से बाँधकर अपनी स्वामिनी के चरणों में डाल देती हैं। जिसे देखकर चैतन्य देव लक्ष्मी के समक्ष अपनी नाराजगी प्रकट करते हैं, जिससे लक्ष्मी का दीर्घकोप शान्त हो जाता है।

चैतन्य से अद्वैत का अनुग्रह-

अन्त में भगवती श्री की प्रयाण यात्रा के अनन्तर अद्वैत चैतन्य से कहते हैं कि अनायास क्रीड़ा द्वारा आपने कलि का मंथन कर दिया, भक्तियोग की स्थापना कर दी,

भावुक भक्तों के हृदय में गोपालबाला मौलमणि श्री राधाभाव की विद्या प्रतिष्ठित कर दी, धर्म, अर्थ, काम के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर दी, मोक्ष की कुछ भी लिप्सा नहीं रहने दी । अब हमारी यह इच्छा है कि सृष्टि-समाप्ति पर्यन्त आपके विलासों को कविगण कविता द्वारा प्रस्तुत करें, सज्जन उसे ही सुनें, दुर्जनगण मत्सर त्यागकर सन्तोषप्रिय हों और राजागण आप मे भक्ति रखकर प्रजापालन करें । यह सुनकर चैतन्य तथास्तु कहकर अद्वैत को कृतार्थ कर देते हैं । इस प्रकार अद्वैत मुखेन भरत-वाक्य के साथ ही नाटक की समाप्ति हो जाती है ।

कथानक का स्रोत

चैतन्यचन्द्रोदय की कथावस्तु चैतन्य प्रभु की कथा से सम्बन्धित है । चैतन्य प्रभु के व्यक्तित्व में बाल्यकाल से ही प्रबल आकर्षण तथा नेतृत्व में विलक्षण प्रतिभा के कारण ही बंगाल में उनकी प्रतिष्ठा ईश्वर के रूप में हो गयी थी । राम और कृष्ण की कथा के समान ही चैतन्य की कथा भी लोक-प्रसिद्ध थी । चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर ही अनेक भक्त कवियों ने उनके जीवनचरित को अपने ग्रन्थ का उपजीव्य बनाया[1] । अधिकांश कवियों ने चैतन्य की कथा को बंग भाषा में छन्दोबद्ध किया है कवि

---

1. मुरारिगुप्त-श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृतम्
   स्वरूपदामोदर गोस्वामी-कड़चा
   कवि कर्णपूर-चैतन्यचरितामृतम्, चैतन्यचन्द्रोदयम्
   वृन्दावनदास-चैतन्य-भागवत
   लोचनदास-चैतन्यमङ्गल
   जयानन्द-चैतन्यमङ्गल
   कृष्णदास कविराज-चैतन्य चरितामृतम्

कर्णपूर ने अपने ग्रन्थ चैतन्यचरितामृतम् का प्रणयन करते समय मुरारिगुप्त विरचित "श्रीकृष्ण चैतन्यचरितामृतम्" को अपना उपजीव्य अवश्य बनाया है[1] क्योंकि उस समय तक चैतन्य के जीवन से सम्बद्ध कथा का प्रणयन अधिकाधिक रूप मे नहीं हो पाया था तथा मुरारिगुप्त ने चैतन्य के बाल्यावस्था के अभिन्न मित्र एवं सहपाठी होने के कारण चैतन्य के जीवन की समस्त घटनाओं को प्रत्यक्ष देखा तथा अनुभव किया था । दूसरे वह कृति कवि की किशोर अवस्था की रचना थी जिसमें आत्मविश्वास के अभाव के कारण मुरारिगुप्त का अनुकरण किया गया है । किन्तु चैतन्यचन्द्रोदयम् में कवि कर्णपूर पूर्ण वयस्क प्रतीत होते हैं । चैतन्य भक्तों के संसर्ग, चैतन्य सम्बन्धी ग्रन्थों के अवलोकन तथा स्वयं के अनुभवों के कारण उन्होने चैतन्य चरित को पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उपनिबद्ध किया है । चैतन्य-चन्द्रोदयम् कवि कर्णपूर की मूल रचना है इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखित श्लोक से ही मिलता है ।[2]

---

1. आशैशवं प्रभुचरित्रविलासविज्ञैः केचिन्मुरारिरितिमंगलनामधेयैः ।
यद्यद्विलासललितं समलेखि तज्ज्ञैस्तत्तद्विलोक्य विलिलेख शिशुः स एषः ।।
बद्धाञ्जलिः शिरसि निर्भरकाकुवादैर्भूयो नमाम्यहमसौ स मुरारिसंज्ञम् ।
तं मुग्धकोमलधियं ननु यत्प्रसादाच्चैतन्यचन्द्रचरितामृतमक्षिपीतम् ।।

चैतन्यचरितामृतम्–कर्णपूर, 20/42-43.

2. (I) यस्योच्छिष्टप्रसादादयमजनि मम प्रौढिमा काव्यरूपी ।
वाग्देव्या यः कृतार्थीकृत इह समयोत्कीर्त्य तस्यावतारम् ।।
यत्कर्तव्यं मयैतत्कृतमिह सुधियो येऽनुरज्यन्ति तेऽमी ।
शृण्वन्त्वन्यान्नमामश्चरितमिदममी कल्पितं नो विदन्तु ।।

चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. -394.

(II) श्रीचैतन्यकथा यथामति यथादृष्टं यथाकर्णितं ।
जग्रन्थे कियती तदीयकृपया बालेन येयंमया ।।
एतां तत्प्रियमण्डले शिव शिव स्मृत्येकशेषं गते ।
को जानातु शृणोतु कस्तदनया कृष्णः स्वयं प्रीयताम् ।।

चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -395.

कथानक का औचित्य

संस्कृत आलोचना का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व "औचित्य" ही है । औचित्य का साम्राज्य बड़ा ही व्यापक विस्तृत तथा विशाल है । "औचित्य का अर्थ है उचित का भाव" । जो वस्तु जिसके अनुकूल होती है उसे हम उचित कहते हैं । और उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है । यह औचित्य मात्र संस्कृत का ही विषय नहीं है अपितु उचित और अनुचित इन शब्दों का प्रयोग जीवन के प्रत्येक कार्य-कलाप में पदे-पदे होता है । यही जीवन के सच्चे पथ का नियामक है । काव्य-जगत में काव्य तथा नाटक एक लक्ष्य तथा तात्पर्य को लेकर ही अग्रसर होते हैं और यही लक्ष्य क्रमशः श्रोता तथा दर्शकों के हृदय में रस का उन्मीलन करता है । यह तात्पर्य तभी सिद्ध हो सकता है जब काव्य या नाट्य रसमय होने के अतिरिक्त औचित्यपूर्ण भी हो । काव्य को अलङ्कार सजाते हैं तथा गुण सगुण बनाते हैं परन्तु उचित स्थान पर रखने से ही अलङ्कार की अलङ्कारता है और गुण की गुणता ।[1] जो उससे भिन्न होगा वह अनुचित कहा जायेगा । मेखला कण्ठ में धारण करने से उपहास्यास्पद होती है इस प्रकार काव्य में रस, अलङ्कार, गुणादि का उचित सन्निवेश न होना "अनौचित्य" कहा जायेगा ।[2]

---

1. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
   औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।। औचित्य विचार चर्चा-पृ. 6
   उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत् ।
   उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।। औचित्य विचार चर्चा, का. 7.

2. (।) अदेशजो हि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति ।
   मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।। नाट्य शास्त्र- 22. 71.

   (।।) औचित्येन विना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः । औचित्य विचार चर्चा-
   का. 6 का दृष्टान्त .

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य में औचित्य को विशेष महत्व दिया है । औचित्य के प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों में आचार्य रूद्रट का नाम सर्वप्रथम आता है[1]। क्षेमेन्द्र ने "औचित्य" को रससिद्ध काव्य की आत्मा कहा है[2]। आनन्दवर्धन के अनुसार अनौचित्य से बढ़कर रसभङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है[3]। काव्य का जीवितभूत तत्त्व है रस । अतएव काव्य का उपनिबन्धन करते समय कवि को रस-सृष्टि के लिये सर्वात्मना प्रयत्नशील होना चाहिये । सहृदयों के हृदय में रसानुभूति कराना परम वाञ्छनीय है और केवल ऐतिहासिक घटनाओं के शुष्क वर्णन से पाठकों को रसानुभूति नहीं करायी जा सकती । अतः कवि के लिये आवश्यक है वह कथानक को सरस बनाने के लिये रसापकर्षक तत्त्वों का परिहार करे तथा रसपोषक तत्त्वों का सन्निवेश अपने काव्य में करे । इतिवृत्त मात्र का निर्वाह कर देने से सकलप्रयोजनमौलिभूत, रत्यादिक भावों के आस्वादन से समुद्भूत विगलितवेद्यान्तर आनन्द की अनुभूति कराने वाले कवि का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है[4]। इसी कारण रस-पोषण के लिये सर्वात्मना प्रयत्नशील कवि को कहीं घटना का संकोच करना पड़ता है, तो कहीं विस्तार और कहीं नूतन घटना की उद्भावना करनी पड़ती है । पर इस नूतन उद्भावना के समय कवि को इस बात के लिये जागरूक रहना पड़ता है कि वह नूतन कल्पना कथासंगत हो

---

1. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यक् औचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ।।
रूद्रट. काव्या. 232

2. औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् । औचित्य विचार चर्चा, का. 5.

3. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। ध्वन्यालोक, तृ. उ. पृ. 190

4. (।) कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् ।
तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थिति पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः । ध्वन्यालोक, तृ. उ. पृ. 194

(।।) यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरूद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।। साहित्य दर्पण- 6. 50

अर्थात् काव्यगत रससंगति के साथ इतिहासागत मुख्य वस्तु तत्त्व से भिन्न किसी प्रकार न लगे, अपितु उसका एक विस्तृत रूप प्रतीत हो ।[1]

कथानक के औचित्य की दृष्टि से चैतन्यचन्द्रोदय के कथानक पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कवि कर्णपूर ने चैतन्यचन्द्रोदय के घटना-सयोजन में असाधारण कुशलता प्रदर्शित की है । घटनाओं का संयोजन इस प्रकार से किया गया है कि उनमें पूर्णरूप से स्वाभाविकता ज्ञात होती है । प्रत्येक घटना सार्थक है । प्रत्येक घटना सार्थक होने के कारण कथानक के विकास में पूर्ण योग देती है । सम्पूर्ण नाटक की प्रत्येक घटनायें बहुत विचार-पूर्वक यथास्थान रखी गयी है । कवि ने नाटक की गति स्वाभाविक और अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए कथानक में कहीं घटनाओं का संकोच किया है, तो कहीं विस्तार और कहीं नूतन घटना की उद्भावना तक कर डाली है जिससे चैतन्य-चन्द्रोदय का कथानक और भी पुष्ट हो गया है ।

<u>इतिवृत्त सम्बन्धी औचित्य-</u>

चैतन्यचन्द्रोदय के कथानक के संदर्भ में उल्लिखित चैतन्य के मूल आख्यान से प्रकट होता है कि चैतन्य की चरितकथा ही चैतन्यचन्द्रोदय की कथावस्तु का आधार है । अनेक स्थलों पर पूर्ववर्ती चरित्र लेखकों से कवि कर्णपूर के कथानक का पार्थक्य स्पष्ट परिलक्षित होता है । इस पार्थक्य का कारण यह है कि पूर्ववर्ती ग्रन्थ चैतन्य के तिरोभाव के कुछ ही वर्षों पश्चात् प्रकाश में आ गया था । अतएव शीघ्रता के कारण उसमें कई घटनाएं भ्रमपूर्ण किंवा अस्पष्ट थीं । तदनन्तर कवि कर्णपूर ने संदिग्ध एवं अस्पष्ट घटनाओं को वयोवृद्धजनों से परामर्श लेने के पश्चात् सशोधित रूप में प्रस्तुत किया है । द्वितीय कारण है कि जिस समय पूर्ववर्ती कवियों {मुरारिगुप्त} ने अपने महाकाव्य का निर्माण किया था, उस समय तक सम्पूर्ण बङ्गाल में चैतन्य की प्रतिष्ठा ईश्वर रूप में नहीं हो

---

1. सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।।
तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या । यदुक्तम् "कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः"। स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या ।

पायी थी तथा चैतन्य सम्प्रदाय का संगठन भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था । अतः उन्होने चैतन्य को केवल ईश्वर रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है । किन्तु चैतन्य के तिरोभाव के पश्चात् शनैः शनैः उनके भक्तो ने चैतन्य सम्प्रदाय का संगठन किया तथा चैतन्य को कृष्ण का अवतार सिद्ध करने के लिये उनके जीवन चरित में अनेकानेक अलौकिक घटनाओं की सृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया । इसलिये उनकी अपेक्षा कवि कर्णपूर कृत चैतन्यचन्द्रोदय में अलौकिक घटनाओं की श्रृङ्खला अधिक प्राप्त होती है ।

कवि कर्णपूर ने नाट्य परम्परा का अनुसरण करते हुये आख्यान का पात्र चैतन्य को अवतारी पुरूष के रूप में कल्पित किया है । नाटक में चैतन्य का जन्म, उनका अलौकिक व्यक्तित्व, गया यात्रा, संन्यास-ग्रहण, उनके दार्शनिक सिद्धान्त तथा उनके कृष्ण नामसंकीर्तन रूप प्रमुख प्रयोजन आदि घटनाओं की कल्पना कवि ने पूर्ववर्ती आख्यान के आधार पर ही किया है । इसके अतिरिक्त चैतन्य का महाभिषे-कोत्सव, कृष्ण और गोपाङ्गनाओं की वृन्दावन लीला का ललित वर्णन, गर्भ नाटक, तथा जगन्नाथ प्रभु की रथयात्रा एवं गुण्डिचा यात्रा का विस्तृत साहित्यिक वर्णन आदि घटनायें कवि की मौलिक है । यद्यपि पूर्ववर्ती ग्रन्थो में रथयात्रा एवं गुण्डिचा-यात्रा का काव्य में स्थान है तथापि काव्यत्व के दृष्टिकोण से उसका विशेष महत्व नहीं है । इस प्रकार इन नूतन घटनाओ की उद्भावना के द्वारा आख्यान की उपर्युक्त घटनायें सजीव एवं स्वाभाविक हो गयी हैं ।

प्रथम अङ्क में कथानक के पीछे कवि को अभिप्रेत है नायक चैतन्य को कृष्ण के अवतारी पुरूष के रूप में प्रकट करना । इसी लक्ष्य को लेकर उन्होंने चैतन्य का अलौकिक व्यक्तित्व जन्म से ही स्वीकार किया है[1]। जिसमें चैतन्य की अवतार शक्ति

1\. (I) स जगतीत्राणाय भूमिं गतः । चैतन्यचन्द्रोदय पृ. 14

(II) यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश संभवम् ।।
इति भगवतः सामान्योक्तेस्तथाविधायुतगुणवत्तया भगवत्तैयास्य सिद्धेति वयमेव प्रमाणम् । सद्यं जीवितो न बिभीमः । पृ. -15 वही ।

की कल्पना को स्वाभाविक बना दिया । क्योंकि अवतार शक्ति के अभाव में यदि चैतन्य के इन गुणों का होना मात्र संयोग होता तो समस्त जन का अन्त:करण उनके जन्म के साथ ही स्वयमेव आकर्षित कैसे होता ? सकलजन के अन्त:करण का आकर्षण करना तो ईश्वर का असाधारण चिह्न है । क्योंकि ईश्वर आनन्दमय है, और जो स्वयमेव आनन्दमय होगा वही दूसरों को भी आनन्दमय कर सकता है[1] । इसके अतिरिक्त अधर्म भी अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन छ: मंत्रियों की सहायता से उन्हें परास्त कर देता । कलि का प्रभाव ज्यों का त्यों बना रहता । ऐसी दशा में नाटक के अनुरूप विष्णु शक्ति से शून्य लोगों में शक्ति का संचार करके विविध भक्तियोग-प्रधान-नामसंकीर्त्तन रूप कथानक का निर्माण करना कवि के लिये असंभव हो जाता । अत: परम्परानुसार[2] उपर्युक्त घटनाओं की कल्पना के परिणाम स्वरूप चैतन्य का कृष्ण-नाम संकीर्त्तन रूप प्रधान प्रयोजन तो सिद्ध हो जाता है । किंतु कवि ने चैतन्य के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की अवतारणा करते समय उसके प्रमाणीकरण के लिये किसी युक्तिमूलक तर्क का उल्लेख नहीं किया है । इस विषय में कवि का विचार है कि ईश्वर के सम्बन्ध में तर्क देना औचित्यपूर्ण नहीं है । दूसरा नाटक की दृष्टि से इस प्रकार का मूल आख्यान से परिवर्तन उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि चैतन्यलीला के साथ चैतन्य-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यत्र-तत्र विस्तृत विवेचन कथानक की एकसूत्रता में अवरोधक सिद्ध होता है । ध्वनिकार के अनुसार कल्पित कथावस्तु का इस प्रकार निर्माण करना चाहिये कि जिससे वह सबका सब रसमय ही प्रतीत हो[3] ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. -14.
   सकलजनान्त:करणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणं लिङ्गम । आनन्दमयत्वात ।
2. तत्र पूर्व पूर्वरङ्ग: सभापूजा तत: परम् ।
   कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ।। साहित्य दर्पण- 6/21.
3. कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा ।
   यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ।। ध्वन्यालोक तृ॰ उ॰ पृ. -193.

नाटक में चैतन्यमहाप्रभु के महाभिषेक का विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम कवि कर्णपूर ने ही किया है । वर्णनानुसार चैतन्य महाप्रभु अपनें ऐश्वर्य भाव को प्रकट करने के उपरान्त श्रीवास को आज्ञा देते हैं कि उनका महाभिषेक किया जाये । फलस्वरूप श्रीवास पण्डित अपनें कनिष्ठ भ्राताओं और नवद्वीप वासियों के सहयोग से उनका महाभिषेक सम्पन्न करते हैं । महाभिषेकोपरान्त ही चैतन्य का ईश्वरत्व जनसाधारण के दृष्टिपथ पर आ जाता है । कवि ने अपनें नाटक में महाभिषेकोत्सव की यह सूचना विष्कम्भक के माध्यम से दी है ।

चैतन्य के माता-पिता की अवस्था के निरूपण के समय कवि कर्णपूर ने अन्य कवियों[1.] के अनुसार उन्हें निर्धन चित्रित नहीं किया है । कवि को अपने इष्ट देवता और नाटक के नायक को निर्धन चित्रित करना अभीष्ट नहीं था । अतएवं उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं की सृष्टि की है, जिससे स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि जगन्नाथ मिश्र एक सम्पन्न व्यक्ति थे । उदाहरणार्थ-चैतन्य के महाभिषेकोत्सव पर बाजे, शङ्ख तथा घड़ियाल आदि वाद्यों का होना तथा एक सौ आठ घोड़ों आदि का प्रबन्ध करना[2.] । इन प्रसङ्गों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि चैतन्य के माता-पिता को श्रीसम्पन्न व्यक्ति के रूप में देखना चाहते थे ।

इसी प्रकार मुरारिगुप्त के अनुसार बाल्यकाल में चैतन्य का अद्वैताचार्य से कोई परिचय नहीं था । गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के उपरान्त वे श्रीवासाचार्य के अद्वैताचार्य के निवास स्थान गये थे । वहीं उनका अद्वैताचार्य के साथ प्रथम साक्षात्कार हुआ था । जबकि कवि कर्णपूर ने उनका परिचय बाल्यकाल से ही माना है । क्योंकि

---

1. मुरारिगुप्त- श्रीकृष्णचैतन्य चरितामृतम्- 1/5/29.
   वृन्दावनदास-चैतन्य भागवत- 1/2/238-240.
   लोचनदास- चैतन्यमंगल, आदिखंड- पृ. - 43,44.
   जयानन्द- चैतन्यमंगल, नदियाखंड- पृ. - 47.
2. चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. - 21, प्रथम अंक.

कलि के कथनानुसार चैतन्य ने अपने अवतार से पूर्व ही पृथ्वी पर अपने पार्षदों को अवतीर्ण कर दिया था[1]। अद्वैताचार्य भी उनके पार्षद है अतः अद्वैताचार्य का बाल्यकाल से ही परिचय होना अनुचित नहीं है ।

प्रथम अङ्क में ही कवि ने चैतन्य द्वारा गया जाकर पितृ श्राद्ध का वर्णन भी कलि के मुख से विष्कम्भक के माध्यम से किया है[2]। जो सर्वथा उचित भी है । दशरूपककार के अनुसार देव-पितृ कार्य आदि जो आवश्यक वस्तु है उनका अवश्य ही कहीं न कहीं निर्देश करना चाहिये ।[3]

चैतन्य के विवाहोल्लेख के समय भी कवि ने पृथक् दृष्टिकोण अपनाया है । मुरारिगुप्त ने चैतन्य के दो विवाहों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार चैतन्य का सर्वप्रथम विवाह लक्ष्मी नामक युवती से होता है जिसका कुछ समय बाद प्राणान्त हो जाता है । तदुपरान्त विष्णुप्रिया नामक युवती से दूसरा विवाह होता है[4]। किन्तु कर्णपूर ने चैतन्य के एक ही विवाह का उल्लेख किया है । चैतन्य महाप्रभु का दूसरा विवाह दिखाना उनके अवतारी पुरूष होने में बाधक होता है । क्योंकि जब ईश्वर पृथ्वी पर अवतार लेता है तो उसके साथ उसकी लक्ष्मी भी अवतरित होती है । तथा ईश्वर की कभी मृत्यु नहीं होती है । इसीलिये नाटक में कवि ने मात्र विष्णुप्रिया के साथ चैतन्य विवाह का उल्लेख किया है । काव्यशास्त्रियों के अनुसार भी जो वस्तु नायक अथवा रस के लिये अनुचित हो उस कथांश को छोड़कर, कल्पना करके कवि को

---

1. खलु स्वावतारात्पूर्वमेवायमवनितले प्रियपार्षदनिवहानाविर्भावयामास ।
   तथाहि- अद्वैताचार्यवर्यो भगवदनवमं....... । चैतन्यचन्द्रोदय, पृ. -13.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 18.
3. आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् । दशरूपक- तृ. प्रकाश-3/40
4. कृष्णचैतन्य चरितामृतम्- 1/13/18-30.

अभीष्ट, नायकोचित अथवा रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिये ।[1]

द्वितीय अंक का प्रारम्भ विराग के विरह वर्णन से होता है । चारों ओर फैली हुयी अनियमितता एवं दुरवस्था के कारण विराग दुःखी है । जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी लोग नाम मात्र के रह गये हैं । आश्रम व्यवस्था भी बिगड़ गयी है । संन्यासी गण भी मात्र उदर-भरण पोषण के निमित्त रह गये हैं । कलि के प्रभाव के कारण निष्कपट हरिभक्ति के बिना धारणा, ध्यान, निष्ठा, शास्त्राभ्यास, आश्रम, जप, तप, आदि नटों की निपुणता से शिक्षित कला के समान नानाप्रकार से पेट भरने के उपायमात्र है[2] । इस सब अव्यवस्था से दुःखी विराग को तत्क्षण आकाशवाणी के माध्यम से पता चलता है कि नवद्वीप में ईश्वर का अवतार हुआ है और वहीं उसके परिजन विचरण करते रहते हैं । यह सुनकर विराग नवद्वीप की ओर चलता है । इस अंक में विराग के दुःख को दर्शा कर कवि ने उस समय कलि से व्याप्त संसार की दुर्दशा दर्शाने का भरसक प्रयत्न किया है । क्योंकि ऐसी जनश्रुति है कि जब-जब संसार में घोर कलियुग होता है और वह भक्ति शून्य हो जाता है तब तब ईश्वर मानव रूप में अवतार लेकर उन सबका नाश कर भक्ति शून्य हृदयों में भक्ति की स्थापना करता है । चैतन्य प्रभु ने भी इसी समय अवतार लिया है । मार्ग में विराग को भक्तिदेवी मिलती है और वह विराग को चैतन्य का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाती है कि नवद्वीप में ऐसा कोई जन नहीं है

---

1. (i) यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्या वा ।
विरूद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।। साहित्य दर्पण- 6-50.

(ii) इतिवृत्तवशायातां कथंचिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा
पुनरूत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः । ध्वन्यालोक-पृ. -194.

2. चैतन्यचन्द्रोदय- 2/9.

जिसके मन में भक्ति का सागर ना उमड़ रहा हो । वहाँ पर प्रभु के अनुचर गण कृष्ण-नाम-संकीर्त्तन करते हैं । चैतन्य प्रभु ने अपने भक्तों को अपने विविध अवतारों का भी दर्शन कराया । उन्होंने अपना बलराम, सङ्कर्षण, बुद्ध, वराह, नृसिंह तथा षड्भुज स्वरूप का प्रदर्शन किया । कवि ने चैतन्य प्रभु के समस्त अवतारों का वर्णन करके उनको अवतारी पुरुष के रूप में प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है । जो "दिव्य" अथवा भगवदवतार होने पर भी मानवलोक में मानव सा व्यवहार किया करते है ।[1.]

तृतीय अंक में कवि ने चैतन्य प्रभु द्वारा समस्त अवतारों की लीलायें सम्पन्न कर चुकने के बाद गर्भाङ्क के माध्यम से राधा भाव के अनुकरण वृत्तान्त की योजना की है । तृतीय अंक के प्रारम्भ से पूर्व प्रवेशक के माध्यम से कवि ने यह सूचना दी है कि चैतन्य आचार्य रत्न के गृह के प्राङ्गण में राधा भाव का अनुकरण करेंगे और उनके समस्त पार्षदगण सूत्रधार, पारिपार्श्विक आदि का अनुकरण करेंगे । तथा प्रवेशक के माध्यम से ही पूर्वरंग का अंगप्रत्याहार और नान्दीगान का भी संकेत करते हैं जो कवि की कार्य-कुशलता का द्योतक है ।

गर्भ नाटक के माध्यम से चैतन्य का राधानुकरण-

कवि कर्णपूर ने वृन्दावन लीला के अन्तर्गत चैतन्य के राधा भाव के अनुकरण को अंक के मध्य में नाटक की सर्जना करके अत्यन्त कुशलता के साथ दिखाया है । यह नाटक समस्त भक्तजनों के हृदयों में राधा भाव का अनुकरण कराने के लिये किया गया है । क्योंकि ईश्वर तो सर्वरस हुआ करता है वह भक्तजनों के आशय का अनुरोध करके विचित्र लीला करता है । अपनी-अपनी वासना के अनुसार भक्तजन उसका अनुकरण करते

---

1. दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी । यथा श्रीरामचन्द्रः ।
साहित्य दर्पण-पृ. 363.

हैं । पूर्व निश्चित योजना के अनुसार चैतन्य प्रभु राधा का और अद्वैत कृष्ण का अभिनय करते हैं । नाटक में गोपीश्वर की पूजा के लिये पूजोपकरण हाथ में लिये सहचरियों तथा वृद्धा योगिनी के साथ राधा का प्रवेश होता है । राधा के सौन्दर्य को देखकर कृष्ण उस पर आसक्त होते हैं । इसी बीच पूजा के लिये पुष्पावचय करने पर ललिता और कुसुमासव के मध्य वाद-विवाद होता है । जो हास्य रस को उद्दीप्त करता है । तत्पश्चात् राधा तथा उसकी सखियाँ फूलों को फेंककर जाने को उद्यत होती हैं । तभी बीच में आकर कृष्ण राधा को पकड़ना चाहते हैं किन्तु जरती राधा को अन्तर्हित कर स्वयं भी अन्तर्ध्यान हो जाती है । यहीं पर गर्भ नाटक समाप्त हो जाता है । यहाँ पर कवि ने नाट्य शास्त्रीय नियमों के अनुसार गर्भ नाटक में रगद्वार, प्रस्तावना, बीज, एवं फल आदि घटनाओं का स्पष्ट रूप से प्रयोग किया है[1]। वृन्दावन लीला की यह योजना कथानक में अवरोध अथवा शिथिलता ना उत्पन्न कर दे, इसलिये उसमें बीच-बीच में हास्य रस का भी सुन्दर समन्वय किया है । यह कवि कर्णपूर की अपनी मौलिक कल्पना है । मुरारिगुप्त ने इस घटना का उल्लेख कहीं नहीं किया है ।

षष्ठ अंक में कवि ने गङ्गा जैसे अमूर्त पात्र के हृदय में भी करूणा का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है, जो अन्य चैतन्य के चरित्र लेखकों मे दुर्लभ है । चैतन्य महाप्रभु के मथुरा गमन से दुःखी होकर गङ्गा रत्नाकर को (समुद्र) को बताती है कि अद्वैतपुर से चैतन्य प्रभु पहले जंगल मार्ग से तत्पश्चात् राजमार्ग से होते हुये रेमुणा नगर में भगवान् वेत्रधारी की वन्दना करते हैं । तत्पश्चात् कटक राजधानी जाकर साक्षी गोपाल के दर्शन करते हैं और भगवान् जगन्नाथ के देवकुल को देखकर उसके प्रति उत्सुक प्रतीत हो रहे हैं ।

---

1. अकोदरप्रविष्टो यो रंगद्वारामुखादिमान् ।
अंकोपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ।। साहित्य दर्पण- 6-20

गंगा के इस कथन के साथ ही प्रवेशक समाप्त हो जाता है । यहाँ पर प्रवेशक की योजना करके कवि ने अपनी योग्यता का परिचय दिया है क्योंकि नीच पात्रों का कार्य प्रवेशक के माध्यम से ही दिखाया जाना चाहिये[1]। षष्ठांक में ही चैतन्य भगवान् जगन्नाथ का प्रसाद लेकर सार्वभौम भट्टाचार्या के पास जाते हैं और उन्हें जगन्नाथ प्रभु का प्रसाद खिलाते है । जिसे खाते ही सार्वभौम भट्टाचार्या भक्ति के पराधीन होकर पृथ्वी पर लोटने लगते हैं । उनके अन्दर कृष्ण के प्रति भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित होने लगता है । सार्वभौम भट्टाचार्या त्याग भावना में विश्वास नहीं रखते थे और वैष्णवों का परिहास करते थे, वे तत्त्ववादी थे । अतः उनके अन्दर की भक्ति भावना का विश्वास जगाकर कवि ने समस्त जगत को भक्तिमय दिखाने का सुन्दर प्रयास किया है ।

सप्तमअंक में चैतन्य जगन्नाथ पुरी से चलकर आलाननाथ देव का दर्शन करते हैं । कूर्मक्षेत्र में कूर्मदेव को प्रणाम करते हैं और वहीं कूर्म नामक ब्राह्मण के घर में भिक्षा ग्रहण करते हैं । वहीं पर चैतन्य प्रभु एक वासुदेव नामके गलत कुष्ठी ब्राह्मण को गले लगाते हैं । गले लगाते ही वह ब्राह्मण कान्ति युक्त शरीर वाला हो जाता है । इस घटना के द्वारा कवि कर्णपूर ने संभवतः चैतन्य प्रभु की अलौकिकता और सर्वजन के प्रति उनके प्रेम को प्रदर्शित किया है ।

महाप्रभु चैतन्य की मथुरा यात्रा के प्रसङ्ग में कवि कर्णपूर ने वृन्दावन का वर्णन किया है । चैतन्य प्रभु ने यमुनातट के कुञ्ज-कुञ्ज में लीलायें की, गोवर्धन पर्वत के वनों में गये । वहाँ की शोभा देखकर चैतन्य स्वानन्दावेश में उन्मत्त हो गये । वहाँ की प्रत्येक लताओं एवं वृक्षों का आलिङ्गन करते एवं मुक्त कण्ठ से विलाप करते ।

---

1. प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः । साहित्य दर्पण- 6/57.

गोपाङ्गनाओं के दर्शन से आनन्द विभोर होकर गिर पड़ते । मतवाले मयूर के कण्ठ की कान्ति देखकर पृथ्वी पर गिरकर लोटने लगते, काँपने लगते, चिल्लाते भागते तथा विषाद का अनुभव कर मूर्च्छित हो जाते[1]। इस प्रकार दर्शनीय स्थल का स्निग्ध वर्णन करके नाटक को रोमाञ्चक बनाया है । इस प्रकार के वर्णन चैतन्य के समस्त चरित लेखकों में दुर्लभ है । वृन्दावन लीला की यह योजना नाटक के कथानक में कहीं अवरोध या शिथिलता ना उत्पन्न कर दे । इसलिये उसका सम्बन्ध चैतन्य के दिव्योन्माद के साथ स्थापित किया गया है । अर्थात् चैतन्य भक्ति की परमकाष्ठा पर पहुँचकर स्वयं को कृष्ण समझकर अपनी वृन्दावन लीला का स्मरण करते हैं । यह स्थल नाटक में सर्वाधिक सरस और नाटकत्व से पूर्ण है ।

कवि कर्णपूर ने अपने नाटक चैतन्य-चन्द्रोदयम् में नाटकीय कुशलता के साथ-साथ कवित्व का समन्वय करके नाटकों को चिरस्थायी बना दिया है । एक ओर वह इन नाटकों में अपने शास्त्रीय पाण्डित्य का समावेश करता है और दूसरी ओर अपनी उर्वर कल्पना शक्ति के द्वारा उसमें अलौकिक चमत्कार भर देता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 330.

तृतीय-अध्याय

तृतीय अध्याय

नाट्यशास्त्रीय विवेचन

भारतीय वाङ्मय में काव्य की दो प्रधान विधायें दृश्य तथा श्रव्य नामों से प्रख्यात हैं[1]। श्रव्य काव्य की परिधि में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्य-काव्य चम्पू आदि की गणना की गयी है। दृश्य काव्यों की प्रमुख सम्पदा अभिनय है और वर्णना के साथ-साथ अभिनेयता को लेकर जब वे चतुर्विध अभिनयों[2] के माध्यम से अवस्था का अनुकरण करते हैं तब "नाट्य"रूप ग्रहण करते हैं[3]। दृश्यकाव्यों को "नाट्य" "रूप" या "रूपक" भी कहा जाता है।[4]

आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार "नाट्य" शब्द "नट्" नमनार्थक धातु से निष्पन्न है, जहाँ पात्र अपने स्वभाव या स्वरूप को त्याग कर पर भाव ग्रहण करता है।[5] पाणिनि के अनुसार "नाट्य" शब्द की निष्पत्ति "नट्" शब्द मे धर्म अथवा आम्नाय अर्थ में "ञ्यः प्रत्यय" लगाने से होती है।[6]

रसार्णवसुधाकर नाट्य शब्द की परिभाषा करते हुए कहते हैं- "नटस्यातिप्रवीणस्य कर्मत्वान्नाट्यमुच्यते"[7]। आचार्य भरतमुनि नाटक को लक्षित करते हुए कहते हैं कि नाना अवस्थाओं से समन्वित जो लोक का स्वभाव है, अंगादि अभिनयो से

---

1. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्। साहित्य दर्पण 6/1.
2. ------------------------ स चतुर्विधः।
   आंगिकोवाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ।। साहित्य दर्पण- 6/2.
3. दृश्य तत्राभिनेयं। साहित्य दर्पण- पृ. - 359.
4. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
   रूपकं तत्समारोपात् दशैधव रसाश्रयम् ।। दशरूपक- 1/7.
5. नट् नताविति नमनं स्वभावत्यागेन प्रह्वीभावलक्षणम्। नाट्य शास्त्र-भाग-3, पृ. 80
6. छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकवह्वृचनटाञ्ञ्यः अष्टा.। 4/3/129.
7. साहित्य-दर्पण डॉ. सत्यव्रत सिंह। पृ. -360 {रसार्णवसुधाकर 3य विलास}

युक्त होने पर वही नाट्य कहलाता है[1]। धनञ्जय ने अवस्था के अनुकरण को "नाट्य" कहा और धनिक के अनुसार काव्य में वर्णित ﴾ नायक की ﴿ धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अर्थात् चार प्रकार के अभिनय द्वारा एक रूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है[2]। भावप्रकाशनकार शारदातनय ने अवस्था के अनुकरण को नाट्य का सामान्य लक्षण और नट में रामादि अनुकार्य की तादात्म्यापत्ति को नाट्य कहा है[3]। सागरनन्दी के अनुसार नाट्य धर्मादि पुरूषार्थ ﴾ चतुष्टय ﴿ का साधन भूत है और लौकिक दुःखों का अपहर्ता है[4]। आचार्य महिमभट्ट का मत है कि अनुभाव विभावादि के वर्णन से प्राप्त आनन्दोपलब्धि काव्य है और यही काव्य गीतादि से रञ्जित होकर जब नटों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, तो वह नाट्य कहलाता है।[5]

नाट्य की अन्य संज्ञा-

इसी नाट्य को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किये जाने के कारण "अभिनेय काव्य" कहा जाता है[6]। और अभिनेय काव्य को नट में रामादि की अवस्था का आरोप होने के कारण "रूपक" कहा जाता है[7]। तथा चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण "रूप" भी कहा है[8]। साहित्य दर्पणकार के अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्ष के कारण जो "रसात्मक वाक्य" रूप

---

1. योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः ।
   सोऽङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ।। नाट्य शास्त्र- 19/144.
2. काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्ति-र्नाट्यम्- दशरूपक- पृ. - 6.
3. अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्यलक्षणम् ।
   रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या नाट्यमुच्यते । भाव प्रकाशन- 7/1.
4. धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत् । 3 ना. ल. र. कोष
5. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते ।
   तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरंजितम् ।। व्यक्तिविवेक
6. दृश्यं तत्राभिनेयं- साहित्य दर्पण- पृ. - 359.
7. रूपकं तत्समारोपात् । दशरूपक- 1/9.
8. रूपं दृश्यतयोच्यते-- । दशरूपक- 1/7.

काव्य "दृश्य" कहा जा सकता है वही उसके अभिनेता में अभिनेय रामादि चरितों के "रूप" के आरोप अथवा "अनुसन्धान" के कारण "रूपक" भी कहा जाया करता है ।[1]

नाट्य के प्रकार-

आचार्य धनंजय के अनुसार रसों पर आश्रित रूपक दस प्रकार का होता है-[2] नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग । नाट्यदर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणिका को भी स्वतन्त्र रूपक मानते हुये रूपक के बारह प्रकार माने हैं[3] । भावप्रकाशनकार भी रसाश्रित नाटक 10 प्रकार के ही मानते हैं ।[4] धनंजय तथा धनिक के अनुसार रूपक दो प्रकार के होते हैं-शुद्ध तथा संकीर्ण । रसों पर आश्रित दस प्रकार के रूपक शुद्ध हैं । इनमें से दो या तीन के कतिपय लक्षणों का मिश्रण जिस रूपक में पाया जाता है, वह संकीर्ण रूपक है[5] । उन्होंने नाटिका को रूपक के संकीर्ण भेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है[6] । आचार्य धनिक "रूपक" के भेदों में प्रकरणिव

---

1. तद् दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते । साहित्य दर्पण-6वृत्ति

2. (क) ....दशधैव रसाश्रयम् । दशरूपक- 1.7.

   (ख) नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
   व्यायोग समवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।। दश॰ 1.8

3. नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ ।
   व्यायोगः समवकारः भाणः प्रहसन डिमः ।।
   अङ्क. ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः ।
   त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ, कैशिकीं परिवर्जनात् ।। नाट्य दर्पण- 1/3-4.

4. रसात्मका दशैतेषु.......। भावप्रकाशन -8/3

5. रसानाश्रित्य वर्तमान दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण ।
   नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । दश रूपक-1/10 पर धनिक वृत्ति।

6. वस्तु प्रकरणान्नाटका.........। दशरूपक- 3/43.

को नहीं स्वीकार करते हैं[1]। आचार्य विश्वनाथ ने वस्तु नेता और रस की दृष्टि से रूपक के दस प्रकार तथा उपरूपको के अठारह प्रकार माने है । उन्होने नाटिका तथा प्रकरणिका को उपरूपकों के अन्तर्गत माना है[2]। अतः रूपक के भेदक तत्त्वों वस्तु, नेता तथा रस की दृष्टि से उसका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

चैतन्य-चन्द्रोदय का नाट्य शास्त्रीय विवेचन-

नाटक का लक्षण करते हुये आचार्यों का कथन है कि इसका नायक प्रसिद्ध राजवंश का कोई राजर्षि और धीरोदात्त होता है । यह नायक "दिव्य" "अदिव्य" या "दिव्यादिव्य" तीनों में से कोई की महान् व्यक्तित्व हो सकता है । इसके इतिवृत्त में पाँच सन्धियाँ होती हैं । इसकी रचना कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अङ्कों में पूर्ण हुआ करती है । इसमें भिन्न रसों और भावों का आस्वाद होता है,[3] किन्तु एक ही रस का मुख्य रूप से अभिव्यङ्ग्य होना आवश्यक है[4]। चैतन्य-चन्द्रोदय का नायक चैतन्य महाप्रभु चूँकि मनुष्य थे इसलिये अदिव्य की कोटि में आते

---

1. उत्पाद्येति वृत्तत्वं प्रकरण धर्मः, प्रख्यातनृपनायिकदित्वं तु नाटक धर्म इति । एवं च नाटक प्रकरण नाटिकातिरेकेण वास्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात् यदि भेदस्तत्र । दश रूपक- 3/43 पर धनिक वृत्ति.

2. साहित्य दर्पण- 6/3-4-5-6.

3. नाटक ख्यातवृत्त स्यात् पञ्चसंधिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ।।
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।।
प्रख्यातवंशों राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथदिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः। साहित्य दर्पण-6/7-8-9.

4. प्रसिद्धऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ।। साहित्य दर्पण- 3/2

हैं साथ ही ये कृष्ण के अवतार माने जाते थे[1]। इसलिये दिव्य की कोटि में आते है। अतः चैतन्य चन्द्रोदय का नायक महाप्रभु चैतन्य दिव्यादिव्य है। साथ ही वे धीरोदात्त कोटि के नायक है। धीरोदात्त नायक उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती होता है। चैतन्य महाप्रभु इन सभी गुणों से युक्त हैं जैसा कि हम आगे चरित्र-चित्रण वाले अध्याय में देखेंगे[2]। इसमें मुख्य, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण इन पाँचो संधियों का प्रयोग किया गया है। इसकी कथावस्तु दस अंकों में फैली हुयी है। इसमें वात्सल्य, हास्य, करूण, अद्भुत् और रौद्र रसों का अंग रस के रूप में वर्णन है तथा "भक्तिरस" इसका मुख्य या अंगीरस है। भक्तिरस की प्रधानता होने के कारण नायक की भक्त प्रकृति स्पष्ट ही है। वह श्रीकृष्ण प्रेम में इतना विभोर हो जाता है कि अपनी नवपरिणीता पत्नी का त्याग कर संन्यास धारण कर लेता है तथा कृष्ण प्रेम के वशीभूत होकर भूमि पर लोटने लगता है, मूर्च्छित हो जाता है और कृष्ण-नाम-संकीर्त्तन होने पर ही मूर्च्छा टूटती है। रूपक में वाग्व्यापार की अधिकता एवं कृष्ण-नाम-संकीर्त्तन आदि की योजना होने से मुख्य "भारती वृत्ति" है। इस प्रकार नाटक के लक्षणों से समन्वित होने के कारण "चैतन्यचन्द्रोदय" नाटक की कोटि मे आता है। रूपक के भेदक तत्वों में से वस्तु तत्त्व का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -9.

कलिः सखे, नायं केवलो भूदेवबालः। अपितु बालदेवदेवः तथा हि हरिहरि-
हरिभक्तियोगशिक्षासरसमना जगदेव निष्पुणानः
हरिरिह कनकाब्जकान्तकन्तिर्द्विजभवनेऽवततार बाललीलः, ।/14 चैतन्यचन्द्रोदय

2. महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ।। दशरूपक- 2/5

वस्तुतत्व

नान्दी-

नाट्यमण्डप की विघ्न शान्ति के लिये, नाट्य प्रयोग के पहले नट आदि जो कुछ भी मंगल गानादि करते है इसे पूर्वरङ्ग कहते हैं[1]। पूर्वरंग में प्रत्याहारादि भी सम्मिलित हैं, किन्तु मुख्य अंग नान्दी ही है, अन्य अंगो का परिगणन भी नही किया गया है। क्यों कि विघ्न शान्ति का सम्बन्ध सर्वाधिक "नान्दीगायन" के साथ ही है[2]। देव, ब्राह्मण, नृप आदि का आशीर्वादयुक्त स्तुति गान इसके द्वारा किया जाता है। इसलिए इसे "नान्दी" कहते हैं[3]। इसके अतिरिक्त नान्दी "काव्यार्थ-सूचिका" भी होती है[4]। सूत्रधार को मध्यम स्वर का आश्रय लेकर बारह या आठ पदों से सुशोभित नान्दी का पाठ करना चाहिये।[5]

चैतन्यचन्द्रोदय के नान्दी गान में गौरचन्द्र रूप भगवान् चैतन्यमहाप्रभु की वन्दना की गयी है-

निधिषु कुमुदपद्मशंखमुख्येष्वरुचिकरो नवभक्तिचन्द्रकान्तैः।
विरचित कलिकोकशोकशङ्कुर्विषयतमांसि हिनस्तु गौरचन्द्रः।[6]

---

1. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।।
प्रत्याहारदिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाऽप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।। साहित्य दर्पण-6/22-23.
2. भाव प्रकाशन- 7/98-99.
3. अशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।। 6/24 द॰रू॰
4. अर्थतः शब्दतो वाऽपि मनाक्काव्यार्थ सूचकः। नाट्य शास्त्र
5. सूत्रधार पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दीं पदैद्वादशभिरष्टाभिर्वाऽप्यलंकृताम्। नाट्य शास्त्र- 15-104
6. चैतन्य चन्द्रोदयम्- 1/1

प्रस्तुत नान्दी पाठ से भावी कथावस्तु सूचित होती है । इसके "नवभक्ति-चन्द्रकान्तैः" पद से वैष्णवों की उस सामाजिक व्यवस्था का बोध होता है जब धार्मिक जीवन पर प्रतिबंध लग गया था, भक्ति का सर्वत्र अभाव सा व्याप्त हो गया था । धर्म का नाम भी शेष नही रह गया था, सभी वैष्णव निराश हो गये थे । ऐसे समय में चैतन्य का जन्म नवीन भक्ति-स्वरूप ही है । जिन्होंने अपने जन्म के साथ ही "हरिबोल ध्वनि" का उच्चारण कर निराश लोगों के मन में कृष्ण-नाम-सकीर्त्तन द्वारा पुनः भक्ति की स्थापना की । "विरचितकलिकोकशोक" पद से कलि की चैतन्य के आविर्भाव से अपने समूल नाश की आशंका से जनित व्यग्रता सूचित होती है । कलि की व्यग्रता की पुष्टि अधोलिखित पंक्तियों से भी होती है-

कलिः सखे, नायमाक्षिप्यताम् । अवधारय । यतः ।
गतः स कालो मम् सांप्रतं सखे हतप्रभावोऽस्मि कुमारकादतः ।
महोषधेरङ्कुरनिर्गमादिव क्षतप्रभस्तक्षकनागपुंगव ।। 1/12

अधर्मः युगराज, कोऽसौ कुमारकः किं कुत्सितो मारकः किं कोः पृथिव्या वामारकः।

कलिः नोभयम् । नोभयं नो भयं कर्तुमीष्टे, किंतु नवद्वीपे जगन्नाथनाम्नो मिश्रपुरंदराज्जातः शच्यां कुमारोऽयं मम मर्माणि कृन्तति । (पृ. ।।)

प्रस्तावना-

नटनों का वचन व्यापार भारती वृत्ति" कहलाती है, जिसमें संस्कृत भाषा का प्रचुर प्रयोग किया जाता है । यह परोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख इन चार अंगों से युक्त होती है[1] । जहाँ नटी, विदूषक तथा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ इस प्रकार अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से वार्त्तालाप करते है जिससे कथा सूचित

---

1. भारती संस्कृतप्रायो वाग्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः परोचनायुक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः ।। दशरूपक- 3/5

हो जाये उसे "आमुख" कहते हैं, उसी का नाम प्रस्तावना भी है [1]। भरतमुनि तथा आचार्य विश्वनाथ ने इसके पाँच प्रकार बतायें हैं । 1- उद्घात्यकं 2- कथोद्घात 3- प्रयोगातिशय 4- प्रवर्तक और 5- अवलगित । दशरूपककार ने प्रस्तावना के सोलह अंग बतायें है- कथोद्घात, प्रवर्तक,प्रयोगातिशय तथा वीथी में होने वाले 13 अंग [2]। साहित्यदर्पणकार के अनुसार प्रस्तावना के पाँच भेदों में से किसी एक का प्रयोग ही करना चाहिए [3]।

चैतन्य चन्द्रोदय में प्रस्तावना का "उद्घातक" नामक भेद है । साहित्य-दर्पणकार के अनुसार जिसमें सामाजिक अनिश्चितार्थक पदों के साथ पदों की योजना करके अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण किया करते है, वहाँ उद्घातक" नामक भेद कहलाता है [4]। दशरूपककार के अनुसार जहाँ दो पात्रों का परस्पर वार्तालाप या तो गूढ़ार्थ पद तथा उसके पर्यायों की माला के रूप में होता है, वह "उद्घात्यक" कहलाता है [5]।

चैतन्य चन्द्रोदय में सूत्रधार कहता है-

"कृष्णपक्षेऽनुदिवसं क्षयमाप्नोति यः सदा ।
दोषाकरो बाधतां किं स वै विष्णुपदाश्रितान् ।। 1/9

§ नेपथ्ये §

कस्त्वं भोः दोषाकरत्वेन मां जुगुप्सयन्सुधाकरमुपस्थापयसि ।"

---

1. §क§ नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ।। साहित्य दर्पण-6/31-32.
§ख§ दश रूपक- 3/7-8. 1/साहित्य दर्पण- पृ. - 377.
2. §क§ तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ।
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानित्रयोदश । दश रूपक- 3/8-9.
§ख§ नाट्य शास्त्र- 20/33 साहित्य दर्पण- 6/33
3. एषामामुखभेदानामेकं कंचितप्रयोजयेत् । साहित्य दर्पण- 6/40.
4. पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्यक उच्यते ।। साहित्य दर्पण- 6/34.

इस प्रकार सूत्रधार के कथित वचन "दोषाकार" (चन्द्रमा) से सामाजिक ने अभिप्रेय अर्थ "दोषों की खान" (दोषाकर) ग्रहण किया । अतः यहाँ पर अनिश्चितार्थक पदों के साथ पदों की योजना करके अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण करने के कारण "उद्घातक" नामक प्रस्तावना का भेद है ।

अधिकारिक तथा प्रासंगिक इतिवृत्त-

नाट्य (प्रबन्ध) का शरीर वस्तु (कथावस्तु) कहा जाता है । नाट्य तथा अभिनय के ज्ञाताओं ने उसे ही "इतिवृत्त" कहा है[1] । यह इतिवृत्त दो प्रकार का होता है--अधिकारिक और प्रासंगिक[2] । फल का स्वामी "अधिकारी" कहलाता है और उस अधिकारी से सम्बद्ध इतिवृत्त "आधिकारिक" तथा आधिकारिक इतिवृत्त का सहायक किं वा उपयोगी इतिवृत्त "प्रासगिक" कहलाता है[3] । आधिकारिक इतिवृत्त फलोन्मुख होता है । दूसरे प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त जिस कथा का प्रसङ्गतः अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासंगिक इतिवृत्त कहलाता है, क्योंकि उसकी सिद्धि प्रसंग से होती है[4] । प्रासंगिक इतिवृत्त भी पताका और

---

1. (क) इतिवृत्त तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् । नाट्य शास्त्र- 21/1
   (ख) प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
   प्रख्यातमितिहासादेरूत्पाद्यं कविकल्पितम् ।। दशरूपक- 1/15.
2. (क) तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंगिक विदुः । दशरूपक- 1.11.
   इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत् ।
   अधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ।। नाट्य शास्त्र- 21/2
   (ख) इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
   आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ।। साहित्य दर्पण- 6/42.
3. (क) अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
   तन्निर्वृतमभिव्याप्यि वृतं स्यादाधिकारिकम् ।। दशरूपक- 1/12.
   (ख) साहित्य दर्पण- 6/43
4. प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः-दशरूपक- 1/13.

प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें अनुबन्ध सहित, दूरतक चलने वाला प्रासंगिक वृत्त "पताका" कहलाता है तथा एक प्रदेश में रहने वाला प्रकरी है[1]। ये दोनों प्रधान-नायक की कार्य सिद्धि में उसके प्रधान सहायक होते हैं । इन दोनों में परस्पर अन्तर यह होता है कि "पताका-नायक" अपने स्वार्थ की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है, किन्तु प्रकरी अपने किसी स्वार्थ की अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष-भाव से प्रधान-नायक का सहायक होता है । पताका और प्रकरी दोनों में से किसी की भी स्थिति नाटक में अनिवार्य नहीं है। इन दोनों के बिना भी रूपक की रचना हो सकती है । इनकी आवश्यकता उसी दशा में हैं जब मुख्य नायक को सहायक की आवश्यकता होती है । ऐसे नायक सहाय-सापेक्ष कहलाते हैं । किन्तु जिन नायको को सहायकों की विशेष आवश्यकता नहीं होती है और स्वयं अपने सामर्थ्य से ही जो सारे कार्य को सिद्ध कर लेते है उनके चरित्र को लेकर लिखे गये नाटकों मे "पताका" तथा "प्रकरी" का कोई उपयोग न होने से उनकी योजना नहीं की जाती है ।[2]

चैतन्यचन्द्रोदय के नायक चैतन्य भी सहाय-निरपेक्ष नायक हैं अतः सहायक की आवश्यकता न होने के कारण इसमें प्रासंगिक इतिवृत्त अर्थात् पताका और प्रकरी का अभाव है । इसकी मुख्य कथा-वस्तु चैतन्य महाप्रभु की कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित है । यही रूपक की मुख्य कथा है तथा इसका अन्तिम फल चैतन्य प्रभु को ही मिलता है जो कि इस रूपक के नायक हैं । अतः यही इसका अधिकारिक इतिवृत्त है ।

---

1. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् । वही.
2. सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु कार्याणि त्रय एवोपायाः । सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यां, अन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति । हिन्दी नाट्य दर्पण- पृ. - 80

अर्थप्रकृतियाँ-

अभिनव भारती के अनुसार अर्थ का अभिप्राय है फल, और प्रकृति का अभिप्राय है उपाय । इस प्रकार अर्थप्रकृति का अर्थ हुआ फल की सिद्धि के उपाय अथवा साधन [1] । आचार्य धनिक तथा विश्वनाथ के अनुसार अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजनसिद्धि की हेतु हैं [2] । आचार्यों के अनुसार ये अर्थप्रकृतियाँ पाँच होती है-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य । आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इन्हें उपाय कहा है [3] । तथा इन पाँचों उपायों को फल का हेतु माना है । उनके अनुसार हेतु (उपाय) दो प्रकार के होते हैं- अचेतन और चेतन । इनमें से अचेतन हेतु भी मुख्य और अमुख्य भेद से दो प्रकार का होता है । मुख्य अचेतन हेतु "बीज" कहलाता है जो फल का मुख्य कारण है । अमुख्य अचेतन हेतु "कार्य" कहलाता है जो बीज से फलोत्पादन के लिए प्रयुक्त होता है । चेतन हेतु भी मुख्य और सहकारी अथवा उपकरणभूत दो प्रकार का होता है । मुख्य चेतन हेतु "बिन्दु" कहलाता है । उपकरणभूत चेतन अथवा सहकारी भी दो प्रकार का होता है--एक स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और दूसरा स्वार्थनिरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक । इनमें प्रथम पताका तथा दूसरा प्रकरी कहलाता है । इनमें से अचेतन तथा चेतन में से बीज और बिन्दु की नाटक में सर्वत्र व्यापकता के कारण मुख्यता है [4] ।

---

1. अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतवः इत्यर्थः । अभिनव भारती-19/20.
2. अर्थप्रकृतयः प्रयोजनासिद्धिहेतवः । दशरूपक- 1/18. धनिक टीका ।
   साहित्य दर्पण- 6/65. की वृत्ति ।
3. बीजं पताका प्रकरी बिंदुः कार्यं यथारुचि ।
   फलस्य हेतवः पञ्च चतनाचेतनात्मकः ।। नाट्य दर्पण- 1/28.
4. नाट्य दर्पण - 1/28. की वृत्ति भाग ।

बीज-

जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है किन्तु आगे चलकर उसका विस्तार हो जाता है जो फल का निमित्त होता है उसे "बीज" कहते हैं[1]। साहित्यदर्पणकार ने इस फलसिद्धि का प्रथम हेतु कहा है[2]। रूपक की रचना में प्रस्तावना के बाद "बीज" निबद्ध किया जाता है[3]।

चैतन्यचन्द्रोदय में चैतन्य-महाप्रभु द्वारा भक्तियोग की स्थापना फल है, उसका हेतु है-- कृष्ण-पक्ष की अनुकूलता से युक्त सूत्रधार का कथन । उसे बीज रूप से रखा गया है--

कृष्णपक्षेऽनुदिवसं क्षयमाप्नोति यः सदा ।
दोषाकरो बाधतां कि स वै विष्णुपदाश्रितान्[4] ।।

सूत्रधार कहता है सदा कृष्णपक्ष में क्षीण होने वाला दोषाकर विष्णु पदाश्रितजनों को किस प्रकार कष्ट दे सकता है । अतः धर्मपक्ष के रहने पर अधर्म का नाश निश्चित है । इस कथन तक बीज का निर्देश किया गया है । यह फल का निमित्त है, जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से सङ्केत किया गया है । यह पद्य मुख्य रूप से पारिपार्श्विक की शंका निवारण के लिये कहा गया है, किन्तु वह प्रकृत नाटक की कथावस्तु को स्पर्श कर रहा है । इस नाटक के नायक चैतन्य कृष्ण के परम भक्त अर्थात् कृष्णावतार है और दोषाकर चन्द्रमा का अभिप्राय कलियुग से है, जो चैतन्य के जन्म लेने मात्र से ही भयभीत हो जाता है । स्वयं कलि का कथन है--

---

1. स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा । दशरूपक- 1/25
2. फलस्य प्रथमो हेतुर्बीज तदभिधीयते ।। साहित्य दर्पण- 6/65
3. इद च आमुखानन्तरं निबध्यते । नाट्य दर्पण- 63.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 9.

गतः स कालो मम साप्रतं सखे हतप्रभावोऽस्मि कुमारकादतः ।
महौषधेरङ्कुरनिर्गमादिव क्षतप्रभस्तक्षकनागपुंगवः ।।[1]

चैतन्य महाप्रभु कृष्णनाम-सङ्कीर्तन का प्रचार करते हैं जिससे समस्त जन के मन में कृष्णभक्ति का अङ्कुर प्रस्फुटित होता है और चारों ओर कृष्ण-नाम-सङ्कीर्तन की ध्वनि सुनायी पड़ने लगती है, जिससे भयभीत होकर कलि तथा अधर्म वहाँ से भाग जाते हैं । इस प्रकार चैतन्य कलियुग को नष्ट कर कृष्ण-भक्ति को स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, जो चैतन्यचन्द्रोदय का मुख्य प्रयोजन है ।

बिन्दु-

अवान्तर प्रयोजन के द्वारा मुख्य कथावस्तु के विच्छिन्न हो जाने पर जो उसके अविच्छेद का कारण होता है "बिन्दु" कहलाता है ।[2]

चैतन्यचन्द्रोदय में मातृ-वात्सल्य एक अवान्तर कार्य है । उसके कारण रूपक के प्रयोजन (संन्यास-ग्रहण और भक्ति-प्रचार) का विच्छेद होने लगता है । उसके अनन्तर होने वाले कार्य का हेतु है--

शची- विश्वरूपेण मे कथितम् । मया तावत्तावदेव तद्रक्षितं
यावत्स प्रव्रजितो न भूतः । प्रव्रजिते तत्रायमप्येत-
तत्पुस्तकं लब्ध्वा प्रव्रजितो भविष्यतीति तव शङ्कया ज्वालितम् ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/12.
2. अवान्तरार्थविच्छेदे बिंदुरच्छेदकारणम् । दशरूपक- 1. 17.

इस कथन को सुनकर चैतन्यप्रभु कह उठते है-

देव:- अम्ब, दिनानि कतिपयानि कुत्रापि मम गन्तव्यमस्ति ।
त्वया मनसि खेदो न कार्य: ।[1]

इस प्रकार विच्छिन्न होते हुए प्रयोजन के लिये (उक्त कथन से) चैतन्य का पुन: उत्कण्ठित हो जाना ही "बिन्दु" है । जिससे मुख्य कथा का सातत्य बना रहता है ।

कार्य-

"कार्य" रूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य से है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है । और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्तमाना जाया करता है[2]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार साध्य अर्थात प्रधान फल की सिद्धि में बीज का सहकारी द्रव्य, गुणादि अचेतन साधन "कार्य" कहलाता है[3]। इनके अनुसार प्रधान नायक पताका नायक या प्रकरी-नायकों के द्वारा प्रधान फल रूप से अभिप्रेत विषय के सम्बन्ध मे प्रारंभावस्था के रूप में आरोपित प्रधानोपाय रूप बीज का सहकारी अर्थात् उसको पूर्णता तक पहुँचाने वाला सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय रूप द्रव्य गुण, क्रिया आदि सारा अचेतन साधन भूत अर्थ चेतनो के द्वारा साध्य की सिद्धि मे विशेष रूप से प्रवृत्त कराया जाता है । इसलिए "बीज" रूप से निक्षिप्त वृत्तविशेष की सफलता के लिए नियोजित वृत्त-वैचित्र्य "कार्य" कहलाता है[4]।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 126.
2. अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धन: ।
   समापन तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति सम्मतम् ।। साहित्य दर्पण- 6/69-पृ. -402
3. साध्ये बीजसहकारी कार्यम् । नाट्य दर्पण- 1/35- पृ. -80
4. प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकै: साध्य प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते, बीजस्य-प्रारंभावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य, सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य कोश-दुर्ग सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य गुण-क्रियाप्रभृति: सर्वोऽर्थ: चेतनै: कार्यते फलमिति-कार्यम् । नाट्य दर्पण- पृ. - 80

चैतन्यचन्द्रोदय में चैतन्य महाप्रभु कृष्ण भक्ति का प्रचार करने के लिए गर्भाङ्क नाटक में स्वयं राधाभाव का अनुकरण करते हैं । ﴾ तृतीय अंक ﴿ इसके अतिरिक्त श्रीवास प्रांगण में कीर्त्तन आदि का समायोजन भी मुख्य फल की प्राप्ति का साधन है । इस प्रकार भगवद् भक्ति को प्रचारित करने के लिए चैतन्य प्रभु का उपर्युक्त समस्त उपाय "कार्य" अर्थ-प्रकृति में अन्तर्भूत हो जाता है ।

कार्यावस्थायें-

फल के उद्देश्य से जो कार्य प्रारम्भ किया जाये उसकी ये पांच अवस्थाये स्वभावतः हुआ करती हैं- 1- आरम्भ 2- प्रयत्न 3- प्राप्त्याशा 4- नियताप्ति और 5- फलागम [1] । नाट्य दर्पणकार के अनुसार मुख्य फल की प्राप्ति के प्रति बीजादि उपायो का प्रयोग करने वाले नायक के चरित्र में ये पाँच अवस्थायें अपरिहार्य हैं । [2] अर्थप्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ हैं, ये उसी फल की सिद्धि की उपाय होती है । कार्यावस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध नायक के व्यापार ﴾ कार्य ﴿ के साथ है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थप्रकृतियाँ फल-सिद्धि की उपाय है तथा कार्यावस्थायें फल को लक्ष्य कर किये गये व्यापार की अवस्थायें हैं [3] । नाट्यदर्पणकार के अनुसार इन अवस्थाओं का प्रदर्शन नायक के व्यापार द्वारा भी हो सकता है और कहीं प्रतिनायक सहायक तथा दैव-व्यापार के द्वारा भी हो सकता है और वह केवल आरम्भावस्था मे

---

1. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
   आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः ।। साहित्य-दर्पण- 6/70.
2. नेतुः वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ।। 1:34/ नाट्य-दर्पण
3. दशरूपक- पृ० - 23-24.

ही नहीं अपितु सभी अवस्थाओं में हो सकता है । अवस्थाओं का प्रकाशन चाहे किसी के भी व्यापार से हो किन्तु फल की प्राप्ति सदैव मुख्य नायक को ही होती है ।[1]

आरम्भ-

आरम्भ कार्य की वह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिए औत्सुक्य कहा गया है[2] । चैतन्य चन्द्रोदय मे चैतन्य महाप्रभु के कार्य का आरम्भ सूत्रधार के मुख से दिखाया गया है--

"भगवान्श्रीकृष्ण एव सविशेष ब्रह्मेति तत्वं तस्योपासनं सनन्दनाद्युपगीतम-विगीतमविकल: पुरूषार्थ: । तस्य साधनं नाम नामसंकीर्तनप्रधानं विविधभक्तियोगमा-विर्भावयितु भगवांश्चैतन्यरूपी चैतन्यरूपीभवन्नाविरासीत् ।" (पृ- 6)

सूत्रधार कहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सविशेष ब्रह्म है, उनकी उपासना ही पुरूषार्थ है और विविध भक्तियोग प्रधान नामकीर्तिन उस पुरूषार्थ का साधन है । इसी को प्रचारित करने के लिए चैतन्यस्वरूप महाप्रभु का जन्म हुआ है । इस प्रकार चैतन्यमहाप्रभु की विविध भक्तियोग प्रधान नामसंकीर्त्तन रूप मुख्य फल को प्रचारित करने की उत्सुकता "आरम्भ" नामक कार्यावस्था है ।

---

1. एतासु चावस्थासु नायक-सहाय-प्रतिपक्ष-दैवव्यापाराणां अन्यतमस्य, द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां च एकस्या, द्वयोस्तिसृषु चतसृष्वपि च यथार्थ-मुन्मीलने वृत्ति: । फलयोगस्तु मुख्यनायकस्यैव । नाट्य दर्पण- पृ. -86.
2. भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये । 6/7। साहित्य दर्पण

प्रयत्न-

फल के प्राप्त न होने पर उसके लिए अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है[1]। चैतन्य प्रभु की संन्यासियों के प्रति बढ़ती उत्सुकता को देखकर उनकी माता शची देवी सशङ्कित होकर कहती है-

"शची-तत्वं कथय । सन्यासो वा कर्तव्यस्त्वया ।"

देव:- ﴾ विहस्य ﴿ अम्ब, कुतोऽयं ते भ्रम: । इदमपि भवति किम्﴾पृ. 125﴿

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से कृष्ण भक्ति रूप फल के हेतु संन्यास ग्रहण की अप्राप्ति सूचित होती है अत: श्रीवास के प्रांगण में सकीर्त्तन आयोजन में नृत्य से श्रान्त समस्त जनों के निद्रामग्न हो जाने पर अवसर पाकर चैतन्य महाप्रभु चुपचाप वहाँ से गमन करके संन्यास ग्रहण कर लेते हैं । ﴾ पृ. -153 ﴿ इस प्रकार संन्यास-ग्रहण रूप फल के न प्राप्त होने पर चैतन्य का उसकी प्राप्ति के लिए कीर्तन-आयोजनादि के व्याज से उद्योग करना "प्रयत्न" नामक कार्यावस्था है ।

प्राप्त्याशा-

उपाय के होने तथा विघ्न की शंका होने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना मात्र होती है, वह प्राप्त्याशा कहलाती है[2]। चैतन्यचन्द्रोदय के पंचमांक में चैतन्य-प्रभु प्राचीन महात्माओं द्वारा आश्रित परमात्मनिष्ठा का आश्रय लेकर इस दुरन्त अंधकार का पार भगवद् चरणों की सेवा के सहारे ही हो जायेगा ऐसा सोचते मथुरा वृन्दावन की ओर गमन करते हैं । किन्तु आनन्दोन्मत्त होने के कारण उन्हे मार्ग

---

1. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित: 1/22 दशरूपक.
2. उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभव: 1/31 दशरूपक.

का ठीक-ठाक ज्ञान नहीं रहता और वह नित्यानन्द से मथुरा वृन्दावन का मार्ग पूछते हैं । इस प्रकार वृन्दावन गमन का उपाय होने पर विघ्न की आशंका नित्यानन्द के इस कथन से दिखायी गयी है-

"आनन्दवैवश्यमिदं महाप्रभोर्बभूव नः सम्प्रति जीवनौषधम् ।
विभ्रामयन्वर्त्म विवेचनाक्षमं नेष्येऽहमद्वैतविभोर्गृहानमुम् ।" (पृ. 158) (5/7)

इस प्रकार यहाँ पर उपाय एवं विघ्न दोनों की उपस्थिति में चैतन्य प्रभु का मथुरागमन का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता । अतः "प्राप्त्याशा" नामक कार्यावस्था है ।

नियताप्ति-

विघ्नो के अभाव में फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है[1]। चैतन्य-चन्द्रोदय मे गौड़ देश के सीमाधिकारी यवन द्वारा चैतन्य एवं उनके साथियो को गौड़ देश में प्रवेश नही करने देने पर चिन्तित जनचैतन्य प्रभु की दयादृष्टि को ही गौड़ देश गमन का उपाय निश्चित करते हैं-

"भगवन् अस्य साहाय्येनैव सुखेन गन्तुं शक्यते ।
एनं प्रति कृपावलोकः क्रियाताम् ।। (पृ.-319)

इसके बाद वह यवन ग्रहग्रस्त साहो गया और हरि बोल के आवेश में आकर महाभागवत की दशा को प्राप्त हुआ । (320) यहाँ चैतन्य प्रभु की दया दृष्टि द्वारा यवन अधिकारी रूप विघ्न का निवारण हो जाने से फल की निश्चित प्राप्ति की सूचना दी गयी है ।

---

1. अपायाभावतः प्राप्तिनिर्यताप्तिः सुनिश्चिता 1/21 दशरूपक.

फलागम-

पूर्णरूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है[1]। चैतन्य महाप्रभु सर्वत्र अधर्म और अहिंसा का नाश कर समस्त जनों के हृदयों मे कृष्ण भक्ति को प्रस्फुटित करने मे सफल होते हैं और कृष्ण नाम-प्रचार रूप § भक्तियोग की स्थापना रूप § फल की प्राप्ति होती है । अतः यह फलागम रूप अन्तिम कार्यावस्था है ।

सन्धियाँ-

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण ये पाँच अवस्थाओं का क्रमशः अनुगमन करने वाले मुख्य कथा के पाँच भाग सन्धि कहलाते हैं[2]। धनञ्जय के अनुसार किसी रूपक में कई कथांश होते हैं, उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न होते हैं किंतु वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से समन्वित होते हैं और किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी उन सब का सम्बन्ध हुआ करता है । यही सम्बन्ध सन्धि कहलाता है अर्थात् मुख्य प्रयोजन से अन्वित कथांशों का किसी एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध[3]। अर्थ-प्रकृति और कार्यावस्थाओं के आधार पर किया गया इतिवृत्त का विभाग सन्धि है[4]। किन्तु यदि अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सन्धि का अविर्भाव होता है तो एक असंगति यह उठती है कि अर्थप्रकृतियाँ जिस क्रम में पढ़ी जाती है उसी क्रम से नाटक में उनका प्रयोग होना चाहिए और सब अपरिहार्य भी

---

1. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः । 1/33. दशरूपक.
2. मुखं प्रतिमुखं गर्भाऽऽमर्श- निर्वहणान्यमी ।
   सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ।। 1/37 हिन्दी नाट्य
3. अन्तरकार्यसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति । दशरूपक. 1/23
4. दशरूपक. पृ० - 24.

होने चाहिए । परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता । सहायक की अपेक्षा न रखने वाले नायकों के चरित्र में बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन ही अर्थप्रकृतियाँ प्रयुक्त होती है । पताका और प्रकरी की आवश्यकता नहीं होती[1]। जैसा कि इससे पूर्व भी अर्थप्रकृतियों के सन्दर्भ में बताया जा चुका है । अतः अर्थप्रकृतियों तथा अवस्थाओं के योग से सन्धि का अविर्भाव कैसे माना जा सकता है[2]। अतः तथ्य यह है कि सन्धियाँ कार्यवस्थाओं का अनुगमन करती है । नाट्य दर्पणकार के अनुसार मुख्य अर्थात् स्वतंत्र महावाक्य (अर्थात् नाटक के कथाभाग के अंश ((भाग)), परस्पर अपने रूप से और अंगो के साथ मिलते है इसलिए सन्धि कहलाते हैं[3]। ये सन्धियाँ प्रारम्भ आदि अवस्थाओं के साथ चलने वाले है इसलिए अवस्था की समाप्ति पर सन्धि भी समाप्त हो जाती है तथा अवस्थाओं के अपरिहार्य होने से उनका अनुसरण करने वाले पांचों सन्धि भी नाटक प्रकरण नाटिका आदि में अपरिहार्य है ।[4]

<u>मुख सन्धि-</u>

बीज की उत्पत्ति तथा रस का आश्रयभूत, मुख्य कथा भाग का अंश "मुख सन्धि" कहलाता है[5]। प्रारम्भावस्था के साथ होने के कारण प्रधान वृत्त का यह भाग मुख के समान सबसे पहले दृश्य होने से "मुख सन्धि" कहलाता है । चैतन्यचन्द्रोदय

---

1. (I) नैषामौद्देशिको निबन्धक्रमः, सर्वेषामवश्यम्भावित्वं वा ।हिन्दी नाट्य दर्पण पृ. -62
   (II) दशरूपक- पृ. -25.
2. विस्तृत विवेचन के लिये
   दृष्टव्य दशरूपक में प्रतिपादित सन्धि विषयक धारणा ...
   डॉ0 ज्ञान देवी श्रीवास्तव द्वारा लिखित शोध-पत्र
3. मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यर्थस्यांशा भागाः,परस्परं स्वरूपेणं चांगैः सन्धीयन्ते इति सन्धयः । नाट्य दर्पण पृ. -94
4. अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता, अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि नाटकप्रकरणंनाटिकाप्रकरणीषु पञ्चावश्यम्भाविनिः। नाट्य दर्पण- पृ. -94
5. मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्ति रसाश्रयः। हिन्दी नाट्य दर्पण 1/44.

में प्रथम अंक से लेकर द्वितीयांक तक मुख सन्धि है । यहाँ पर चैतन्य-प्रभु का भक्तियोग नामकीर्त्तन को प्रचारित करने के लिये ही जन्म लेना तथा जन्म के साथ ही हरिबोल की ध्वनि उच्चारण रूप भक्तिरस है । इसी के साथ चैतन्य का युवावस्था में ही स्त्री का परित्याग कर सन्यासिराट् ईश्वरपुरी को अपना गुरू बनाना, दशवर्ती दशाक्षर मन्त्र की दीक्षा लेना रूप नाना अर्थों की अभिव्यक्ति हुयी है । इस प्रकार नाना अर्थों एवं रस से पूर्ण होने के कारण तथा बीज से युक्त होने के कारण रूपक का यह भाग "मुख सन्धि" है ।

प्रतिमुख सन्धि-

मुख सन्धि में सूक्ष्मरूप से दिखलायी देने वाले बीज के उद्घाटन से युक्त प्रतिमुख-सन्धि होती है[1]। मुख सन्धि में चैतन्य जन्म के साथ ही हरि नाम का उच्चारण करवा देते है । इस प्रकार मुख सन्धि में सूक्ष्म रूप से दृश्य (प्रयुक्त) चैतन्य-प्रभु के भक्तिरूप बीज का द्वितीयांङ्क में विराग तथा भक्तिदेवी के परस्पर संलाप तथा प्रेम-भक्ति के कथन से उद्घाटन होता है--

"भक्तिदेवी-विराग न जानासि । शृणु । अस्माकमेव कृते कोऽपि महाकारूणिकं भगवान्भवबन्धच्छेदकचरितो गौरचन्द्रोऽवतीर्णः ।" (पृष्ठ संख्या- 51)

जिसे सुनकर विराग कहता है- "अवगतमिदं मित प्रकाशयन्त्या गगनवाण्या । (पृ. 51)

प्रेमभक्ति-मैत्रि, अस्माकमाश्रयभूतस्यभगवतः कस्यापि श्रीविश्वंभरस्य विहित-सर्वावतारलीलस्य संप्रति वृन्दावनेश्वरी भावमनुचिकीर्षोरिच्छया सकललोकस्य-हृदयशोधनाय साधयामि । (पृ. 79)

---

1. प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः । हिन्दी नाट्य दर्पण- 1/38

इस प्रकार मुख सन्धि के अन्तर्गत जिस बीज का न्यास किया गया था । बीच में कलि के प्रभाव से व्याप्त विषमता से व्यवहित होने के कारण वह अलक्ष्य हो जाता है । उसका भक्ति देवी एवं प्रेम-भक्ति द्वारा उद्घाटन किया गया है । अतः यहाँ प्रतिमुख सन्धि है ।

गर्भ-

मुख्य फल के लाभ और अलाभ के अनुसन्धान के द्वारा बीज की फलोन्मुखता से युक्त कथाभाग गर्भ सन्धि कहलाता है[1] । चैतन्यचन्द्रोदय में चैतन्य-प्रभु मथुरागमन करते है, किंतु नित्यानन्द के इस विचार से उनका मथुरागमन भंग हो जाता है-

आनन्द चैवश्यमिदं महाप्रभोर्बभूव
न: सम्प्रति जीवनौषधम् ।
विभ्रामयन्वर्त्म विवेचनाक्षमं
नेष्येऽहमद्वैतपिभोर्गृहानुमम् ।। 5/7.

तब चैतन्य पुनः वृन्दावन जाने की अनुमति के लिये अपनी माता शची देवी को प्रसन्न करते हैं । और शची देवी देवी प्रसन्न होकर कहती हैं-

"भो:भो: यदि धर्मदोषो भवति तदात्मनः
सुखकृते तस्यखलजनकृता किंवदन्ती कथं करणीया ।। पृ० - 182

इस कथन द्वारा बीज की फलोन्मुखता स्पष्ट है । "अतः यहाँ पर गर्भ सन्धि है ।"

---

1. बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः । 1/46० नाट्यदर्पण

विमर्श-

जहाँ क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से फलप्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाता है, तथा जिसमें गर्भसन्धि द्वारा निर्भिन्न बीजार्थ का सम्बध दिखलाया जाता है वह अवमर्श या विमर्श सन्धि कहलाती है ।[1] नवमाङ्क में यवन सीमाधिकारी द्वारा मार्ग में जलचर लुटेरों के भय से मुक्ति प्रदान करने से विघ्न रहित कृष्ण-दर्शन प्राप्ति का निश्चयरूप विमर्श दिखलाया गया है । (पृ. 320)

निर्वहण सन्धि-

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने-अपने स्थान पर बिखरे हुये अर्थों का एक (मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है, वह निर्वहण सन्धि कहलाती है[2] । चैतन्यचन्द्रोदय में सूत्रधार, चैतन्य-महाप्रभु आदि के कार्यों (अर्थों) का, चैतन्य-महाप्रभु के एक ही कार्य भक्ति-योग की स्थापना के लिये समाहार होता है, जो इस कथन द्वारा दिखालाया गया है-

अद्वैत-

हेलाखेलायितेनातनि कलिमथनं ख्यापितो भक्तियोगो ।
व्यक्तं तत्रापि नीतः परमसुनिभृतः प्रेमनामा पदार्थः ।।
क्वापि क्वापि प्रकीर्णा पुरूतरसुभगम्भावुका भावुकानां ।
तत्राप्याभीरनारी मुकुट मणिमहाभावविद्यानवधा ।।[3]

---

1. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
   गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ।। दशरूपक. 1/43.
2. बीजवन्तो मुखाद्यार्थः विप्रकीर्णा यथायथम् ।
   ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।। दशरूपक. 1/48
3. चैतन्य-चन्द्रोदयम्- 10/70

अद्वैत कहता है कि अनायास क्रीडा द्वारा आपने कलि का मथन कर भवितय की स्थापना कर दी ।

इस प्रकार यहाँ निर्वहण सन्धि है ।

सन्ध्यङ्गा -

दशरूपककार के अनुसार-मुखादि सन्धियों में मिलाकर कुल 64 अंग होते हैं । इन अंगों की संख्या प्रत्येक सन्धि में भिन्न-भिन्न निर्धारित की गयी है । मुख सन्धि तथा गर्भ सन्धि में 12, प्रतिमुख तथा विमर्श सन्धि में 13, एवं निर्वहण सन्धि में 14 अंग होते हैं । आचार्य भरतमुनि ने इन सन्ध्यङ्गो के प्रयोग को आवश्यक माना है, उ अनुसार कवियों को सन्धियों में यथायोग रस के अनुसार सम्यक् रूप से अंगों का प्रयो करना चाहिये[1] । आचार्यो ने इन सन्ध्यङ्गो का 6 प्रकार का प्रयोजन माना है जो प्रकार है-

1. रूपक में जिस अर्थ का समावेश अभीष्ट होता है उसका समावेश इनके माध्य से कर दिया जाता है ।
2. कथावस्तु में जो अंश रंगमच पर दिखाना अभीष्ट नहीं होता, उसको छिप लिया जाता है ।
3. प्रकाशन करने योग वस्तु को प्रकाशित किया जाता है ।
4. सन्धिके अंगो की समुचित योजना से इतिवृत्त की संघटना इतनी सुव्यवस्थि हो जाती है कि अभिनेय वस्तु के विषय में दर्शकों की रूचि बढ़ने लगती है

---

1. तस्मात् सन्धिप्रदेशेषु यथायोग यथारसम् ।
   कविनाङ्गानि कार्याणि सम्यक्तानि निबोधत ।। नाट्य शास्त्र- 19.56

5. बार-बार सुनी गयी कथा भी किसी काव्य या नाट्य का इतिवृत्त बन जाया करती है, सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना से उसका प्रयोग भी अपूर्व सा प्रतीत होने लगता है ।

नाट्यादि प्रबन्धों में कथा का विच्छेद अरुचि एव नीरसता उत्पन्न कर देता है, किन्तु सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना से कथावस्तु का विच्छेद नहीं होता है ।[1]

नाट्य-दर्पण-कार का कथन है- सभी सधियों के अङ्ग कथाभाग के अविच्छेद के लिये ही निबद्ध किये जाते है । और कथावस्तु का अविच्छेद रस की पुष्टि के लिये होता है । क्यों कि कथावस्तु का विच्छेद हो जाने पर तो स्थायिभाव आदि का भी विच्छेद हो जाने से रस का आस्वादन कैसे होगा? इसलिये रस के परिपोषक होने पर एक ही अङ्ग एक ही सन्धि में दो या तीन बार भी निबद्ध किया जा सकता है[2] । आचार्य विश्वनाथ भी इनका ही समर्थन करते हुये कहते हैं कि रूपक प्रबन्धों का सारभूत अर्थ रस है और उसे सन्ध्यङ्ग की योजना आवश्यक है जो रूपक प्रबन्धों के रसरूप सारार्थ के अनुकूल हो । इस दृष्टि से एक संधि के अङ्ग की योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है । यथा- वेणी संहार के तृतीयाङ्क में गर्भ सन्धि के अन्तर्गत मुखसंधि के अंग संप्रसारण की योजना की गयी है ।[3]

उपक्षेप-[1]

रूपक के आरम्भिक अंश में कवि द्वारा बीज का न्यास ही उपक्षेप है ।
चैतन्यचन्द्रोदय में-

कृष्ण पक्षेऽनुदिवसं क्षयमाप्नोति यः सदा ।
दोषाकरों बाधतां किं सवै विष्णुपदाश्रितान् ।। 1.9

इस कथन के द्वारा सूत्रधार भक्तियोग की स्थापना से युक्त अपने उद्योग को बीज रूप में न्यस्तकरता है अतः "उपक्षेप" सन्ध्यङ्ग है ।

विलोभन-

गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है[1]। प्रथमांक में सूत्रधार पारिपार्श्विक को बताता है ।

आश्चर्यं यस्य कन्दो यतिमुकुटमणिमध्विाख्यो मुनीन्द्रः ।
श्रीलाद्वैतः प्ररोहस्त्रिभुवनविदितः स्कन्ध एवावधूतः ।।
श्रीमद्वक्रेश्वराद्या रसमयवपुषः स्कन्धशाखास्वरूपो ।
विस्तारो भक्तियोगः कुसुममथ फलं प्रेम निष्कैतवं यत् ।।

अपि च- ब्रह्मानन्दं च भित्वा विलसति शिखरं यस्य यत्रात्तनीडं ।
राधा कृष्णाख्यलीलामयखगमिथुनं भिन्न भावेन हीनं ।।
यस्यच्छाया भवाध्वश्रमशमनकरी भक्तसंकल्पसिद्धे ।
हैतुश्चैतन्यकल्पद्रुम इव भुवने कश्चन प्रादुरासीत् ।। 1/6-7

---

1. गुणाख्यानं विलोभनम् । दशरूपक- 1/27.

यहाँ सूत्रधार के मुख से कल्पवृक्ष तुल्य चैतन्य महाप्रभु के गुणों के वर्णन द्वारा पारिपार्श्विक का विलोभन किया गया है । अतः यहाँ विलोभन नामक सध्यङ्ग है ।

<u>युक्ति-</u>

प्रयोजनों का निर्णय करना ही युक्ति है[1]। चैतन्यचन्द्रोदय में सूत्रधार कहता है-"तस्य साधनं नाम नामसङ्कीर्त्तनप्रधानं विविधभक्तियोगमाविर्भावयितुं भगवां-श्चैतन्यरूपी चैतन्यरूपीभवन्नाविरासीत् ।" (पृ. -6)

इस कथन के द्वारा चैतन्य प्रभु की भक्तियोग की स्थापना प्रयोजन के रूप में निश्चित की गयी है । अतः यहाँ "युक्ति" नामक सध्यङ्ग है ।

<u>प्राप्ति-</u>

सुख का प्राप्त होना ही प्राप्ति है[2]। द्वितीयाङ्क में विराग कलि से व्याप्त दुष्प्रभाव को देखकर अत्यन्त दुःखी हो जाता है । किन्तु भक्तिदेवी मिलकर उसे संसार बन्धच्छेदक चैतन्य-प्रभु के बारे में बताती है जिससे प्रसन्न होकर विराग कहता है ।

विराग-

अवगतमिदं मितं प्रकाशयन्त्या गगनवाण्या । किंतु
भक्त्यो वा किमीहन्ते स वा देवः किमीहते ।
निराश्रयस्यमम वा किमसौ भविताश्रयः ।। 1/14.

यहाँ विराग को सुख की प्राप्ति होने के कारण प्राप्ति नाम अङ्ग है ।

---

1. संप्रधारणमर्थानां युक्तिः । दशरूपक. 1/43
2. प्राप्तिः सुखागमः । वही. 1/44.

समाधान-

बीज का पुनः आगमन समाधान है[1]। द्वितीयाङ्क में चैतन्य-प्रभु अपने भक्तों को समक्षाकर भिन्न-भिन्न प्रकार के अवतारों का प्रदर्शन करते हैं जिससे उनके मन में भक्तिकी ओर रूचि बढ़े। उनके इन विभिन्न रूपों को देखकर नित्यानन्द आनन्द निमग्न होकर रोमाञ्च परिपूर्ण शरीर से प्रभु की स्तुति करते हैं।

भुजैःषड्भिरेभिः समाख्याति कश्चिन्निसर्गो-
　　　षड्वर्गहन्तेति भोस्त्वाम्।
वयं ब्रूमहे हे महेच्छ त्वमेभि-
　　　श्चतुर्वर्गदो भक्तिदः प्रेमदश्च ।। 2/23.

अतः यहाँ समाधान नामक सन्ध्यङ्ग है।

विधान-

सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करने वाला "विधान" कहलाता है।[2] चैतन्यचन्द्रोदय के द्वितीयाङ्क में एक गरीब ब्राह्मण था जिसका समस्त शरीर गल गया था जिससे वह बहुत दुःखी एवं निराश था। किन्तु चैतन्य-प्रभु ने कुछ क्षणों में ही उसका यह रोग दूर कर दिया[3]। और वह सुखी हो गया। अतः यहाँ सुख दुःख दोनों उत्पन्न होने के कारण विधान नामक अंग है।

परिभावना-

अद्भुत भाव का (पात्र में) समावेश ही "परिभावना है[4]। तृतीयाङ्क में चैतन्य-महाप्रभु,जब राधा भाव, का अनुकरण करने के लिये राधा का रूप धारण करते है तब प्रेमभक्ति उन्हें उस रूप में देखकर कहती है।

---

1. बीजागमः समाधानम्। दशरूपक- 1/45
2. विधानं सुखदुःखकृत्। वही. 1/46
3. चैतन्य-चन्द्रोदयम्- पृ० - 70

प्रेमभक्ति-

{निर्वर्ण्य} अहो चित्रम् । स एवाय देवः । नास्य किमप्यशक्यम् । यतः ।

मोहिन्येष बभूव यः स्वकलया देवद्विषो मोहय-
न्नात्मारामममपीश्वरेश्वरमपि श्री शंकरं लोभयन् ।
तस्याश्चर्यमिदं न किंचिदपि यत्कृष्णावतारोऽपि स-
न्श्रीराधाकृतिमगृहीत्स्ववपुषा देवः स विश्वंभरः ।। 3/42

अतः "परिभावना" नामक सध्यङ्ग है ।

नर्म-

परिहास युक्त वचन ही "नर्म" कहलाता है ।[1] चैतन्यचन्द्रोदय में सखियों के परिहास युक्त वचन नर्म नामक सध्यङ्ग के उदाहरण हैं--

राधा-ललिते, परित्राहि परित्राहि । एष दुष्टो भ्रमरो बाधते ।

सख्यः- मुक्त्वा लवङ्गलतिकां चपलो मधुसूदन एषः ।
प्रियसखि अनियतप्रेमा तव मुखगन्धेनान्धो भ्रमति ।। { 3/48 }

यहाँ सखियों का परिहास युक्त वचन "नर्म" नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है ।

प्रगमन-

बीज के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर वचन ही प्रगमन है ।[2] चैतन्य-महाप्रभु आचार्य रामानन्द राय से कहते हैं--

---

1. परिहास वचो नर्म । दशरूपक- 1/47

2. उत्तरा वाक्प्रगमनम् । दशरूपक- 1/59

भगवान्	–	किं स्मर्तव्य ?
रामानन्दः	–	अघारिनाम
भगवान्	–	किमनुध्येयं ?
रामानंद	–	मुरारेः पदम्
भगवान्	–	क्व स्थेयं ?
रामानद	–	व्रज एव
भगवान्	–	कि श्रवणयोरानन्दि ?
रामानंद	–	वृन्दावन–क्रीडिका
भगवान्	–	किमुपास्यमत्र ?
रामानंद	–	महसी श्रीकृष्णराधाभिधे । ॥ पृ. –239–240 ॥

यहाँ पर बीज के सम्बन्ध में चैतन्य-महाप्रभु तथा आचार्य रामानन्द के उत्तरोत्तर वचन "प्रगमन" नामक सन्ध्यङ्ग के उदाहरण हैं ।

<u>पुष्प</u>–

बीजोद्घाटन के सम्बन्ध में विशेषतायुक्त कथन को पुष्प कहा जाता है [1] । द्वितीयाङ्क में कलि से प्रभावित संसार को देखकर विराग अत्यन्त दुःखी है, मिलके मिलकर भक्तिदेवी उसे बताती है कि--"विराग," एतस्मिन्कलिकाले कलिकालेशमात्रमपि धर्मान्तरं नास्ति । न स्थिरतरं किमपि भवति । केवलमलंकरोति । एतं कलिं भगवद्धर्मो बन्धं पराकरोतीति साधनसाध्यसद्धर्मः । शुद्धभक्तियोगेनैनसामवहारकेण कलिमलमथनकारिणा आचण्डाल चण्डाऽलङ्घनीयद्दुर्वसिनावासनाशेन साङ्गोपाङ्गं मादृशी भक्तिदेवी सङ्गे कृत्वा भगवता अवतारः कृतो भक्तवेशेन ।" ॥ पृ. – 5। ॥

---

1. पुष्पं वाक्यं विशेषवत् । दशरूपक– 1/62

इस कथन से चैतन्य-महाप्रभु द्वारा कलि का नाश अवश्यम्भावी है यह प्रकट होता है अतः "पुष्प" नामक सन्ध्यङ्ग है ।

वर्णसंहार-

ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का एक साथ होना ही "वर्णसंहार" कहलाता है[1] । यथा-चैतन्यचन्द्रोदय में विराग दुःखी होकर कहता है--

षष्ठे कर्मणि केवलं कृतधियः सूत्रैकचिह्ना द्विजाः ।
संज्ञामात्रविशेषिता भुजभुवो वैश्यास्तु बौद्धा इव ।।
शूद्राः पण्डितमानिनो गुरूतया धर्मोपदेशोत्सुकाः ।
वर्णानां गतिरीदृगेव कलिना हा हन्त संपादिता ।। 2/ 2

यहाँ पर एकत्रित ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की दशा के द्वारा कलियुग के प्रभाव को प्रकट किया गया है । अतः वर्णसंहार नामक अङ्ग है ।

मार्ग-

यथार्थ का कथन ही "मार्ग" कहलाता है[2] । यहाँ अधर्म के प्रति कलि के भक्ति-प्राप्ति के मार्ग की सूचना दी गयी है ।

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।
धर्माभावे कुतः कृष्णः पक्षो यस्य कलेः क्षयः ।। 1/11

---

1. चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते । दशरूपक- 1/65
2. मार्गस्तत्वार्थदर्शनम् । वही। 1/69

इस प्रकार यहाँ पर कलि के द्वारा भक्तियोग की स्थापना के विषय में यथार्थ की सूचना दी गयी है । अतः "मार्ग" नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है ।

अनुमान-

किसी चिह्न से किसी बात का निश्चय करना अनुमान कहलाता है[1]। चैतन्य-प्रभु द्वारा संन्यास-ग्रहण का समाचार सुनकर श्रीवास कहता है कि-

> तन्मात्रपुत्रावत सा तदेकचक्षुस्तदेकस्वसुखानुभूतिः ।
> मातापि तस्मिन्गुरूदेवबुद्धिर्न तं विना जीवति सा क्षणं च ।। 4/18

यहाँ पर कृष्ण-भक्ति के कारण सन्यास-ग्रहण कर लेने से शची माता के मरण का अनुमान किया गया है । अतः "अनुमान" नामक सन्ध्यङ्ग है ।

आक्षेप-

गर्भ के बीज का उद्भेद ही आक्षेप कहा गया है[2]। शची देवी-भोः भोः, यदि धर्मदोषो भवति तदात्मनः सुखकृते तस्य खलजनकृता किंवदन्ती कथं करणीया ।" (पृ. - 182) इत्यादि द्वारा शची देवी की प्रसन्नता के अधीन ही संन्यास-ग्रहण रूपकृष्ण-नाम-संकीर्त्तन की सिद्धि है, यह प्रकट किया गया है । अतः गर्भ के बीज को प्रकट करने के कारण यह आक्षेप नामक सन्ध्यङ्ग है ।

अपवाद-

किसी पात्र के दोषों का कथन "अपवाद" कहलाता है[3]। विराम-कले, साधु । एकातपत्रीकृतं भुवनतलं भवता । तथाहि-

---

1. अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा । दशरूपक- 1/75
2. गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः । वही. 1/80
3. दोषप्रख्यापवाद स्यात् । वही. 1/83

उत्सारितं शमदमादि निगृह्य गाढ ।
भृत्यीकृतं क्वचन हन्त धनार्जनाय ।।
कामं समूलमुदमूल्यत धर्मशाखी ।
मैत्र्यादयश्च किमतः परमीहितव्यम् ।। ﴾ 2/10 ﴿

इत्यादि के द्वारा कलि के दोषों का कथनकिया गया है । अतः "अपवाद" नामक विमर्श सन्धि का अंग है ।

प्रसङ्ग -

गुरूजनों का कीर्त्तन प्रसङ्ग कहलाता है [1] । कृष्णचैतन्य सार्वभौम से कहते हैं । सार्वभौम एतावद्दूरं पर्यटितं, भवत्सदृशः कोऽपि न दृष्टः, केवलमेव रामानन्दरायः। स त्वलौकिक एव भवति । ﴾ पृ. 255 ﴿

यहाँ पर कृष्ण चैतन्य द्वारा आचार्य रामानन्द राय का कीर्त्तन किया गया है । ﴾ अतः प्रसङ्ग ﴿ नामक सध्यङ्ग है ।

सन्धि-

बीज का फलागम से अन्वित करके सन्धान ही सन्धि कहलाता है ।[2]

महः पूरः सद्यो विषयरससंशोषणविधौ ।
प्रचण्डो मार्तण्डव्यतिकर इवास्य प्रसृमरः।।
आहार्य माधुर्य भगवदनुरागामृतचिरो ।
महावर्ष्मा कोऽयं कनकनिधिरक्षणोः पथिगतः ।। ﴾ 10/15 ﴿

---

1. गुरूकीर्त्तनं प्रसङ्गः। दशरूपक- 1/85
2. सन्धिर्बीजोपगमनम् । वही. 1/98

इत्यादि के द्वारा भक्ति रूपी बीज की पुनः प्राप्ति होती है । अतः यहाँ सन्धि नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।

आनन्द-

अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द कहलाता है[1]। भक्ति-योग की स्थापना ही अभीष्ट है जिसकी प्राप्ति पर अद्वैत का कथन है-

हेलाखेलायितेनातनि कलिमथनं ख्यापितो भक्तियोगो
व्यक्तं तत्रापि नीतः परमसुनिभृतः प्रेमनामा पदार्थः ।
क्वापि क्वापि प्रकीर्णा प्रुरूतरसुभगम्भावुका भावुकानां
तत्राप्याभीरनारीमुकुटमणिमहाभावविधानवद्या ।। § 10/70 §

अतः यहाँ पर आनन्द नामक सन्ध्यङ्ग है ।

समय-

दुःख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है[2]। जगन्नाथ की रथयात्रा सन्निहित होने पर चैतन्य-महाप्रभु प्रसन्नता पूर्वक नृत्य करते हैं तथा गोपालदास नामक अद्वैताचार्य के पुत्र को भी नचाते है । नाचते-नाचते वह बालक मूर्च्छित हो जाता है जिसके शरीर पर हाथ फेरकर प्रभु उसे जीवित कर देते हैं । "द्वैते खिद्यति पाणिपद्मबलनाद् देवः स तं प्राणयत् । ततो हरिध्वनिरूच्चैरूच्चचार तथा द्वितीयाङ्क में गलत्कुष्ठी ब्राह्मण का नीरोग हो जाना । § पृ. -376 §

---

1. आनन्द वाञ्छिताप्तिः । दशरूपक- 1/104
2. समयो दुःखनिर्गमः । दशरूपक- 1/105

इस प्रकार दुःख के दूर हो जाने से यहाँ समय नामक सन्ध्यङ्ग है ।

भाषण-

मान आदि की प्राप्ति "भाषण" कहलाती है ।[1]

मानस्य क्रम एष नैव यदियं स्वश्वर्यविख्यापकै-
नार्नादिव्यपरिच्छदैः स्वयमहो देवं प्रतिक्रामति ।
व्यक्तं रौद्ररसोऽयमम्बुधिभुवः क्रोधस्य यत्स्थायिनो-
भूयानेव विकार एष विदितं वैदग्ध्यमस्याः परम् ।।{10/60}

यहाँ पर मान आदि की प्राप्ति दिखलायी गयी है, अतः यहाँ "भाषण" नामक सन्ध्यङ्ग है ।

काव्यसंहार-

वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार कहलाती है[2] । श्री कृष्ण चैतन्य-किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि । { पृ. -392 }

यहाँ पर श्री कृष्णचैतन्य के कथन द्वारा काव्यार्थ का उपसंहार किया गया है । अतः "काव्यसंहार" नामक सन्ध्यङ्ग है ।

प्रशस्ति--

शुभ अर्थ का कथन ही "प्रशस्ति"है[3] ।"नाट्यशास्त्र में इसे ही भरत-वाक्य" भी कहते हैं । चैतन्यचन्द्रोदय में जनकल्याण की दृष्टि से इसका कथन किया गया है--

---

1. मानाद्याप्तिश्च भाषणम् । दशरूपक- 1/107
2. वराप्तिः काव्यसंहारः । वही. 1/109
3. प्रशस्तिः शुभशंसनम् । वही. 1/54.

आकल्पं कवयन्तु नाम कवयो युष्मद्विलासावली
तामेवाभिनयन्तु नर्तकगणा:शृण्वन्तु पश्यन्तु ताम् ।
सन्तो मत्सरतां त्यजन्तु कुजना: सन्तोषवन्त: सदा
सन्तु क्षोणिभुजो भवच्चरणयोर्भक्त्या प्रजा: पान्तु च ।। ॥ 10/75 ॥

इस प्रकार यहाँ शुभ का कथन किये जाने के कारण "प्रशस्ति" नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।

पताकास्थानक-

निश्चित किये हुये प्रयोजन तथा उपाय से भिन्न प्रयोजन तथा उपाय की प्राप्ति जहाँ इतिवृत्त की उपकारिणी होती है, वह नाटक मेंनिरन्तर न रहकर कहीं-कहीं होने वाला चार प्रकार का "पताकास्थानक" नाट्य रूप काव्य का सौन्दर्यधायक होता है[1]। पताका के समान पताकास्थानक भी प्रधान फल में उपकारक इतिवृत्त होता है[2] तथा एक भी पताकास्थानक नाट्य काव्य का सौन्दर्यधायक हो जाता है[3]। आचार्य धनंजय के अनुसार जो किसी अन्य वस्तु के कथन द्वारा आगन्तुक प्रस्तुत वस्तु का सूचक होता है । वह पताकास्थानक कहलाता है, वह समान इतिवृत्त तथा समान विशेषण होता है[4]। धनिक का कथन है कि प्राकरणिक किन्तु आगे आने वाले अर्थ का सूचक इतिवृत्त रूप जो पताका के समान बहुत दूर से ही सूचना देता है, वह पताकास्थानक

---

1. चिन्तितार्थात्परप्राप्ति-र्वृत्ते यत्रोपकारिणी ।
   पताकास्थानकं तत्तु चतुर्धा मण्डनं क्वचित् ।। नाट्य दर्पण- 1/30
2. प्रधानफलोपकारिका तदितिवृत्तं पताकास्थानकम् । हिन्दी नाट्य दर्पण-वृत्ति.
3. मण्डनमितिएकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यालङ्करणं किं । पृ. -71. पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा । वही. वृत्ति भाग-पृ. -71.
4. प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनो न्योक्तिसूचकम् ।
   पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ।। दशरूपक- 1/14.

कहलाता है । वह अन्योक्ति तथा समासोक्तिके भेद से दो प्रकार का होता है[1]।
आचार्य भरत एवं विश्वनाथ के अनुसार जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को तो अन्य
अर्थ अभिलषित हो, किन्तु सादृश्यादि के कारण "आगन्तुक" अर्थात् अचिन्तितोपनत
पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाये उसे "पताकास्थानकं" कहते हैं ।[2]
धनंजय और धनिक ने केवल दो प्रकार का पताकास्थानक बताया है, किन्तु नाट्यशास्त्रमे
चार प्रकार का पताकास्थानक बतलाया गया है[3]। बाद में नाट्यदर्पण तथा साहित्यदर्पण
में भी चार प्रकार के पताकास्थानक का निरूपण किया गया[4]--

1- आकस्मिक रूप से प्राप्त होने के कारण सभ्यो के लिये चमत्कारजनक इष्टवस्तु की प्राप्ति का वर्णन प्रथम प्रकार का पताकास्थानक कहलाता है ।[5]

2- "श्लिष्टा" प्रकृत प्रकरण से सम्बद्ध और "सातिशया" अर्थात् अत्यन्त अद्भुत अर्थ वाली वाणी का आकस्मिक प्रयोग द्वितीय प्रकार का पताकास्थानक कहलाता है ।[6]

---

1. प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकंरूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारकम् अन्योक्तिसमासोक्तिभेदा।
दशरूपक- 1/14 वृत्ति भाग- पृ. 14

2. यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ।। नाट्य शास्त्र- 19.30 साहित्यदर्पण 6/45.

3. नाट्य शास्त्र । 19.31-34. ‡अभिनव भारती नाट्य शास्त्र

4. नाट्य दर्पण । 1/30. साहित्य दर्पण- 6/46-47-48-49.

5. सहसेष्टार्थलाभश्च । नाट्य दर्पण- पृ. -72.

6. श्लिष्टसातिशया च वाक् । नाट्य दर्पण- पृ. - 73.

3. दो अर्थों वाली वाणी का प्रयोग करके चिन्तित अर्थ से अन्य अर्थकी प्रतीति जिसमें होती है वह तृतीय प्रकार का पताकास्थानक कहलाता है[1]।

4. अप्रकट अर्थात् प्रत्युत्तर देने वाले को अविदित अर्थ को किसी वक्ता के द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर श्लिष्ट अर्थात् अन्य अभिप्राय से कथित होने पर भी प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध और स्पष्ट अर्थात् उस अप्रकट अर्थ के विषय में विशेष निश्चय कराने वाला जो उत्तर है उस रूप की वाणी चतुर्थ प्रकार का पताकास्थानक कहलाती है।[2]

तृतीय भेद-

चैतन्यचन्द्रोदय के तृतीय अङ्क में दानलीला के प्रसङ्ग में सूत्रधार पारिपार्श्विक से कहता है-- हन्त मारिष, न जानासि।

"दानद्रवोत्सिक्तकरः करालस्तम्बेरमो यत्र मेघधामा" ।। 3/25.
वहाँ एक मेघवर्ण हाथी है जिसका शुण्डादण्ड दानवारि से सदा सिक्त रहता है (उस मार्ग में कृष्ण हैं जिनका हाथ दान के लिये लालायित रहता है)।

इस पद्य में हाथी का वर्णन प्रकृत है। उसमें "मेघधामा" यह पद श्लिष्ट है अर्थात् दो अर्थों का बोधक है। सामान्य रूप से उसे हाथी के लिये प्रयुक्त किया गया है किन्तु उससे कृष्ण का भी बोध हुआ है।

अतः यह तृतीय पताकास्थानक है।

---

1. द्व्यर्था च। नाट्य दर्पण- पृ. -74.

2. अप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्ट प्रत्यभिधापि च। पृ. -75 वही. । 1/31.

चतुर्थ भेद-

अष्टमाङ्क में श्रीकृष्णचैतन्य होश में आने का अभिनय करके कहते है कि ऐसा लगता है कि अब परमानन्दपुरी शीघ्र ही पधारेंगें, क्योंकि--

भगवद्दर्शनसुखमनु सुखान्तरं किमपि साम्प्रतं भावि ।
आसन्नशर्मशंसी प्रसाद आकस्मिको मनसः ।। 8/6. ॥ इति सोत्कण्ठं तिष्ठति॥

और उसी समय परमानन्दपुरी का आगमन होता है--

पुरी- जयति कलितनीलशैल चन्द्रेक्षणरसचर्वणरङ्ग निस्तरङ्गः ।
कनकमणिशिलाविलासवक्षाः स्थलगलदस्त्रमजस्ररोमहर्षः ।। 8/7.

इस प्रकार कृष्णचैतन्य के अप्रकट अर्थ के प्रस्तुत होने पर परमानन्दपुरी वहाँ अकस्मात् आकर कृष्ण चैतन्य के गुणों का वर्णन कर प्रसन्न होते है, इससे चैतन्य महाप्रभु को, यही परमानन्दपुरी है ऐसा परिज्ञान होता है । अतः यहाँ चतुर्थ पताकास्थानक है।

वृत्तियाँ-

पुरूषार्थ के साधक नाना प्रकार के व्यापार को "वृत्ति" कहते है[1] । आचार्य धनजय, धनिक तथा विश्वनाथ के अनुसार नायक-नायिकादि के व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है[2] । सामान्यतः नायक आदि के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं । वाचिक आदि चेष्टाओं के साथ-साथ वह देश-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की

---

1. पुरूषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः । नाट्य दर्पण- पृ. - 273.
2. ॥क॥ तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः । दशरूपक- पृ॰ - 182.
   ॥ख॥ प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः । वही. पृ. -183 वृत्ति भाग.
   ॥ग॥ स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु- साहित्य दर्पण-पृ॰ -455-6/ 123.

भाषा बोलता है, भिन्न-भिन्न प्रकार का वेष धारण करता है और अन्य भी नाना प्रकार के क्रिया कलाप में व्यस्त रहता है किन्तु वे सभी व्यापार नाट्यवृत्तियाँ नहीं कहलाते है । इसलिये विश्वनाथ ने "नायकादिव्यापारविशेषा नाटकेषु" मे विशेष शब्द का ग्रहण किया है तथा धनिक ने "प्रवृत्तिरूप:" यह विशेषण दिया है । फलत: नायक आदि का मानसिक, वाचिक, और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है । इन वृत्तियो को "काव्यानां मातृका वृत्तय:" (नाट्य शास्त्र-18.4) नाट्यमातर: (नाट्य शास्त्र- 3.155) "नाट्यस्य मातृका: (साहित्य दर्पण- 6/123) कहा गया है, क्यों कि कवि नायक आदि के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों को वर्णनीय रूप से अपने हृदय में रखकर ही काव्य रचना करता है ।

यह त्रिविध व्यापार ही काव्य का जनक होता है, और भारती आदि वृत्तियाँ कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप ही हैं । इसलिये काव्य की जननी होने से उनको काव्य की माता कहा गया है । ये वृत्तियाँ केवल नाट्य अर्थात् अभिनेय काव्य की ही नहीं है अपितु अनभिनेय श्रव्य काव्य की भी माता है, क्यों कि व्यापार रहित किसी अर्थ का वर्णन न होने के कारण श्रव्य-काव्यों में भी कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारों का ही वर्णन होता है । इसलिये अनभिनेय काव्य में भी वृत्तियाँ होती है ।[1.]

ये वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गयी है-- भारती, कैशिकी, आरभटी, तथा सात्वती । इनमें सात्वती वृत्ति विशेषत: मानस व्यापार रूप होती है, भारती वृत्ति वाचिक व्यापार रूप, और कैशिकी तथा आरभटी दोनों वृत्तियाँ विशेषकर कायिक व्यापार रूप हैं । वृत्तियों का चतुर्भेदत्व किसी एक व्यापारांश की प्रधानता की विवक्षा से होता है अन्यथा अनेक व्यापारों से मिला हुआ वृत्ति-तत्व अर्थात्

---

1. नाट्य दर्पण- पृ. - 274.

व्यापार एक ही होता है, क्यों कि नाटकादि रूप प्रबन्धों में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों में से कोई भी व्यापार अन्य व्यापारों के योग के बिना नहीं होता है । कायिक व्यापार मानसिक तथा वाचिक व्यापारों से मिश्रित होते हैं । क्योंकि शब्द के द्वारा निर्दिष्ट मानसिक ज्ञान के बिना कोई सुन्दर कायिक व्यापार संभव नहीं है और मानसिक तथा वाचिक व्यापार तो कायिक व्यापार के बिना हो ही नही सकते हैं । इसलिये कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप भारती आदि चारों वृत्तियों के परस्पर संकीर्ण होने पर भी उस अंश की प्रधानता की दृष्टि से चार प्रकार की वृत्तियाँ कही गयी हैं । अभिनवगुप्त ने चारो वृत्तियों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार बताया है--

> पाठ्य प्रधाना भारती, अभिनयप्रधाना सात्वती, अनुभावाद्य-
> वेशमयरसप्रधानारभटी, गीतवाद्योपर जकप्रधानाकैशिकीति ।
>
> ﴾नाट्य शास्त्र﴿ ﴾अभिलषित भारतीय-20. 23﴿

भारती वृत्ति-

समस्त रूपकों में रहने वाली, आमुख तथा प्ररोचना से उत्थित अर्थात् नाट्य के प्रारम्भिक भागों में विशेष रूप से उपस्थित सम्पूर्ण रसों से परिपूर्ण तथा प्रायः संस्कृत भाषा का अवलम्बन करने वाली, वाग्व्यापार-प्रधान वृत्ति "भारती" कहलाती है ।[1]

---

1. सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।
   प्रायः संस्कृतनिःशेषरसाद्या वाचिभारती ।। नाट्य दर्पण-3/104. पृ. -275.

चैतन्यचन्द्रोदय रूपक वाग्व्यापार प्रधान है, अतः इसमें मुख्य वृत्ति भारती है । भारती वृत्ति अंगचतुष्टयात्मिका वृत्ति है । इसके चार अंग है--प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख ।

रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को अभिनय-दर्शन के प्रति उन्मुख-आकृष्ट करना ही "प्ररोचना" है[1]। चैतन्यचन्द्रोदय में सूत्रधार दर्शकों को उन्मुख करने के लिये रूपक के गुणों का वर्णन करता है--

-"तदधुना धुमानः संदेह च कृतार्थयन्नयमहं
श्रीनाथेनानुगृहीतेन तस्यैव भगवतोऽपतो निजकरुणां
श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य ।
शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितं परमानन्ददासकविना
विनाशितहृत्कषायतिमिरं श्री चैतन्यचन्द्रोदय नाम
नाटकमभिनीय समीहितहितमस्य नृपतेः करिष्यामि ।" (पृ. -3-4)

इसमें कवि परमानन्दास (कर्णपूर) की महत्ता और नाटक-रचना-की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों में नाटक-दर्शन का उत्साह उत्पन्न करने का यत्न किया गया है इसलिये यह भारती वृत्ति की अङ्गभूत "प्ररोचना" का स्थल है ।

चैतन्यचन्द्रोदय में "भारती वृत्ति" से सम्बद्ध "प्रस्तावना" का विवेचन पहले ही किया जा चुका है ।

---

1. अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना । साहित्य दर्पण- 6/30

सात्त्वती वृत्ति-

सात्त्वती वृत्ति शोक रहित होती है, यह सत्त्व, त्याग, दया, और सरलताआदि से युक्त होती है[1]। चैतन्यचन्द्रोदय के प्रथमाङ्क में नायक चैतन्य अपनी नव-परिणीता पत्नी का परित्याग कर कृष्ण-सेवा मे अपना जीवन सौंप देता है। {1/30}

वह जगत्-कल्याण के लिये और श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन के प्रचार के लिये अपना घर एव परिजनों को छोड़कर सन्यास-ग्रहण कर लेता है। {चतुर्थाङ्क} समय-समय पर पीड़ित जनों के दुःखों को दूर करता है तथा उनके पापों को स्वयं ग्रहणकर लेता है। {पृ. - 20}

वह समदर्शी है और एक गलत्कुष्ठी ब्राह्मण को भी मित्र के समान गले लगाता है। {सप्तमाङ्क}

चैतन्यचन्द्रोदय का नायक सत्त्व, त्याग, दया और सरलता की मूर्ति है।

अर्थोपक्षेपक-

रूपक दृश्य होते हैं। उनका रगमंच पर अभिनय किया जाता है। परन्तु किसी नायक के जीवन की सभी घटनाओ का रूपक में वर्णन नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय-नाट्य-परम्परा के अनुसार कुछ घटनाओं का रंगमंच पर अभिनय करना वर्जित है, जैसे किसी की मृत्यु आदि। इसके साथ ही रूपक रसाश्रित होते है अतः नीरस वस्तु का वर्णन भी रूपक में वाछनीय नहीं है। इस प्रकार की सभी घटनाओं का अभिनय तो नहीं किया जाता किन्तु कथा-सूत्र को

---

1. विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः। दशरूपक- 2.53.

अविच्छिन्न रखने के लिये इनकी सूचना अवश्य देनी होती है । ऐसे अर्थों को कवि अन्य रूपों में सूचित मात्र करता है । उनको "सूच्यअर्थ" कहते हैं । जिन अर्थों को रूपकों में साक्षात् अभिनय द्वारा दिखलाया जाता है, वे "दृश्य-अर्थ" कहलाते है । इस आधार पर नाटकादि मे "दृश्य" तथा "सूच्य" दो प्रकार के अर्थ होते हैं । इन सूच्य अर्थों में प्रायः दो प्रकार के अर्थ आतें है--नीरस तथा अति विस्तीर्ण एवम् अनुपयोगी । छोटी-छोटी बातों को अभिनय के द्वारा दिखलाने से नाटक के विस्तार के भय से उन अर्थों को पात्रो के वार्तालाप द्वारा सूचित किया जाता है । इसी प्रकार नीरस अर्थ की भी सूचना दे दी जाती है। इन सूच्यांशो के प्रतिपादक को सामान्यतया "अर्थोपक्षेपक" कहते हैं । ये अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के माने गये हैं--विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार । दूर की यात्रा, वध, युद्ध, राज्य, विप्लव, और देश-विप्लव आदि घेरा डालना, भोजन, स्नान, रतिक्रीडा, अनुलेपन, वस्त्र-ग्रहण इत्यादि को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखलाना चाहिये अपितु अर्थोपक्षेपक के माध्यम से ही सूचित कर देना चाहिए ।[1]

विष्कम्भक-

बीते हुये और आगे होने वाले कथा-भागों का सूचक, संक्षिप्त अर्थ वाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विष्कम्भक कहलाता है[2] । यह दो प्रकार का होता है--शुद्ध और संकीर्ण । जिनमे से एक या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है । तथा मध्यम और अधम पात्रों द्वारा प्रयोजित विष्कम्भक संकीर्ण कहलाता है[3] । चैतन्य-चन्द्रोदय के प्रथमाङ्क में शास्त्रीय नियमो के

---

1. दूराध्वानं वधं युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ।
   सरोधं भोजनं स्नान सुखं चानुलेपनम् ।।
   अम्बर ग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ।। दशरूपक- 3/34-35.
2. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
   संक्षेपार्थस्तु विष्कंभो मध्यपात्र प्रयोजितः ।। दशरूपक- 1/59.
3. एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमः । वही. पृ.-97

अनुसार प्रस्तावना के पश्चात् कलि तथाअधर्म के कथनों द्वारा शुद्ध विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है । यहाँ पर उस समय की सामाजिक दशा का, कलियुग से प्रभावित संसार का, तथा चैतन्य के जन्म से भयभीत कलि अधर्म को चैतन्य के गुणों एवं महत्ता से अवगत कराते हुये उन्हें अपने विनाश का सूचक बताता है । इस प्रकार नीरस किंतु अवश्य वक्तव्य वस्तु को विष्कम्भक के माध्यम से सूचित किया गया है । (पृ. 10-28)

प्रवेशक-

विष्कम्भक के ही समान भूत और भविष्य के कथांशों का सूचक, नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त, दो अङ्को के बीच में स्थित, अप्रदर्शनीय अर्थ का सूचक "प्रवेशक" कहलाता है[1]। चैतन्यचन्द्रोदय में दो अंकों के पश्चात् तृतीय अंक में "प्रवेशक" का विधान किया गया है । तृतीय अंक के प्रारम्भ में मैत्री तथा प्रेमभक्ति का वार्त्तालाप प्रवेशक के अन्तर्गत है । यहाँ प्रवेशक के माध्यम से भावी गर्भ नाटक चैतन्यप्रभु के समस्त अवतारों की लीलायें सम्पन्न करने के पश्चात् राधाभाव का अनुकरण करने की सूचना दी गयी है । (पृ. -79)

इसके अतिरिक्त षष्ठ तथा नवमाङ्क के प्रारम्भ में भी अप्रदर्शनीय कथाभागों को सूचित करने के लिये "प्रवेशक" का विधान किया गया है--

षष्ठाङ्क के प्रारम्भ में रत्नाकर तथा गंगा का परस्पर वार्त्तालाप प्रवेशक के अन्तर्गत है । गंगा चैतन्य-प्रभु के मथुरागमन तथा मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न मंदिरों में उनके द्वारा की गयी स्तुति की सूचना देती है । (पृ. -186-190)

---

1. तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।। दशरूपक- 1/60

नवमाङ्क के आदि में पुरूष तथा स्त्री की परस्पर वार्त्ता प्रवेशक में है । यहाँ पर भी प्रवेशक के माध्यम से भावी घटना जगन्नाथ प्रभु की रथयात्रामहोत्सव की सूचना दी गयी है । ≬ पृ. – 303 ≬

इस प्रकार इन तीनों प्रवेशकों में नीरस किन्तु अपेक्षित, भूत तथा भावी कथावस्तु के सूचक अंशों का उल्लेख किया गया है । तथा निम्नकोटि के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण "प्रवेशक" है ।

चूलिका–

जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ की सूचना देना चूलिका कहलता है ।[1] ≬ पुनर्नेपथ्ये ≬

कुरूष्व सुरभीरपस्त्वमिह राम सशोधिता
मुकुन्द रचय स्वयं त्वमभिषेकसामग्रिकाम् ।
गदाधर विधत्स्व भी वसनमाल्यभूषादिक
मयायमभिषेक्ष्यते हरिरिहैव खट्वोपरि ।। 1/36.

यहाँ पर नेपथ्य ध्वनि से चैतन्य प्रभु के"महाभिषेकोत्सव" की सूचना दी गयी है । इसके अतिरिक्त तृतीयाङ्क में नान्दी की ≬ 3/15–16 ≬ पंचमाङ्क में संन्यास–ग्रहण की ≬ 5/17 ≬, सूचना नेपथ्यस्थ पात्रों द्वारा दी गयी है । अतः यह अंश "चूलिका" नामक अर्थोपक्षेपक है ।

---

1. अन्तर्जवनिका संस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना । दशरूपक– 1.61

अङ्कावतार- ﴾ गर्भाङ्क ﴿-

जहाँ पूर्व अङ्क का अन्त हो जाने पर अग्रिम अङ्क का अविच्छिन्न रूप से अवतरण हो जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है[1]। इसे ही नाट्यकार ने गर्भाङ्क कहा है[2]। साहित्यदर्पणकार के अनुसार गर्भाङ्क वस्तुत: किसी नाटक के एक अंक के अन्तर्गत रहने वाले दूसरे अङ्क का नाम है। इसमें भी अंङ्क की भाँति सूत्रधार कृत मंगलाचरण किंवा प्रस्तावना आदि अनिवार्य है। इसमें भी बीजरूप प्रतिकृतार्थ किंवा नायक के प्रधान प्रयोजन का अंशत: उपन्यास आवश्यक है[3]। चैतन्यचन्द्रोदय के तृतीय अङ्क में चैतन्यमहाप्रभु द्वारा नाटक रूप में निबद्ध राधाभाव का प्रच्छन्न भगवत् भक्तो के हृदयों में समावेश करने के लिए अनुकरण होता है। तथा चैतन्य महाप्रभु स्वयं राधा की भूमिका वहन करते हैं। ﴾ तृतीय अङ्क ﴿ इसके अन्तर्गत मंगलाचरण व प्रस्तावना आदि की भी योजना की गयी है। चैतन्यचन्द्रोदय का यह तृतीय अङ्क गर्भाङ्क अर्थोपक्षेपक है।

इस प्रकार चैतन्यचन्द्रोदय रूपक के वस्तु तत्व का साकल्येन विवेचन प्रस्तुत किया गया। नेता तथा रस तत्त्वों की विस्तृत विवेचना पात्रालोचन तथा रसाभिव्यक्ति नामक पृथक् अध्यायों में प्रस्तुत की जायेगी।

---

1. अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागत:। दशरूपक- 1/62
2. इत्यादिकोऽनुरागलक्षण: सर्वाकानामर्थ इति। अयं च गर्भाङ्गोऽप्युच्यते।
﴾ हिन्दी ना॰ द॰ पृ. -61 ﴿
3. अङ्कोदरप्रविष्टो या रंगद्वारामुखादिमान्
अङ्कोऽपर: स गर्भाङ्क: सबीज: फलवानपि ।। साहित्य दर्पण- 6/20

चतुर्थ-अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पात्रालोचन

रूपकों के भेदक तत्त्व वस्तु, नेता एवं रस में वस्तु के भेद-प्रभेद का विशद विवेचन विगत अध्यायों में किया गया है । तदनन्तर अब नेता ﴾नायकादि﴿ के शील-निरूपण का प्रसंग प्राप्त हो जाता है । रूपकों के प्रधान फल का उपभोक्ता नायक होता है[1] । अतः प्रधान रूप से उसका एवं उसके फलप्राप्ति में सहायक अन्य पात्रों का समावेश रूपक में अपरिहार्य हो जाता है । जिस प्रकार इतिहासगत इतिवृत्ति को रसानुकूल बनाने के लिए इतिहासगत नायक के चरित्र में प्राप्त शीलादिजन्य दोषों के परिमार्जन के लिए कवि को या तो मूलवृत्त के उस अंश को छोड़ना पड़ता है जो अभीष्ट चरित्र-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो या उसे यथासंभव दूसरा नवीन रूप देना पड़ता है, उसी प्रकार नवीन कथावस्तु के अन्तर्गत नायकादि के परि-मार्जित चरित्र का अनुशीलन करना भी अपरिहार्य हो जाता है ।

प्रस्तुत नाटक चैतन्यचन्द्रोदयम् एक प्रतीक नाटक है[2] । जिसमें अमूर्त भावों को मूर्तरूप में चित्रित किया गया है । मानव के हृदयगत भाव जो अमूर्त है, उनको जब तक मूर्तरूप में प्रकट नहीं किया जाता है, तब तक वे सूक्ष्म ही होते हैं और उनको स्थूल इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता है । परन्तु जब उन्हे प्रतीक शैली के माध्यम से मूर्त रूप में ला दिया जाता है तो वे ही अमूर्त भाव अद्भुत प्रभाव शक्ति से युक्त सजीव रूप में अनुभूत होने लगते हैं । इस प्रकार इसमें न केवल अमूर्त का मूर्ती-करण किया जाता है प्रत्युत उन्हें मानव रूप में मूर्तिमान किया जाता है । किंचित् अमूर्त अर्थात् भावतात्त्विक पात्रों के अतिरिक्त सैद्धान्तिक एवं मतमतान्तरों से सम्बन्धि

---

1. प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः । नाट्य दर्पण- पृ. - 372.
2. द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय-﴾ प्रतीक नाटक ﴿ पृ. -39.

पात्रों का भी स्वरूप मनोवैज्ञानिक और पर्याप्त रोचक है । जैसा कि हमारे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय "चैतन्यचन्द्रोदय" नाटक में देखने को मिलता है । नाटक की संकुचित सीमा में भी अनेक भावतात्त्विक एवं सैद्धान्तिक पात्रों का सफलतापूर्वक निवेश कर नाटककार ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है । इन्ही पात्रो का अध्ययन हम तीन वर्गों के विभाजन द्वारा करेंगे-

§1§ मूर्त पात्र

§2§ अमूर्तपात्र

§3§ सामान्य पात्र

मूर्तपात्र-

लौकिक मनुष्य द्वारा उसके राग द्वेष और स्थूल क्रिया-कलापों की अभिव्यक्ति ही पात्र का मूर्तरूप है । जो अपने अलग-अलग मनोरागों को अभिव्यक्ति का विषय बनाता है । डॉ0 सरोज ने अपने शोध-प्रबन्ध में इसे प्ररूप पात्र की संज्ञा दी है । उनके अनुसार अमूर्त पात्रों के अतिरिक्त जो पात्र विभिन्न मत सम्बन्धी है और अपने मत या वर्ग विशेष की विशेषता को लेकर पात्र रूप में आये हैं वे प्ररूप पात्र कहलाते हैं[1]। चैतन्य-चन्द्रोदय नाटक में मूर्त पात्रों की बहुलता है अतः यहाँ कुछ महत्वपूर्ण पात्रों के चरित्र का ही अवलोकन किया जायेगा ।

चैतन्य-

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक का नायक चैतन्य है । संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त, प्रख्यात वंश में उत्पन्न, उत्कृष्ट गुणों से युक्त, प्रतापशाली, कीर्ति का इच्छुक एवं अत्यन्त उत्साही कोई राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है ।[2]

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा- डॉ0 सरोज पृ. -94.
2. अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यस्त्राता महीपतिः ।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ।। दशरूपक- 3/22-23.

साहित्यदर्पणकार के अनुसार दिव्यादिव्य पुरूष भी नाटक के नायक बन सकते है[1]। उनके अनुसार राजर्षि जैसे दुष्यन्तादिक, दिव्य श्रीकृष्ण आदि तथा दिव्यादिव्य-श्रीरामदिक है[2]। परन्तु आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटकों में दिव्य नायकत्व का खण्डन किया है। उनके अनुसार नाटक तो "रामवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्" इस प्रकार का सरस उपदेश देने के लिए होता है, किन्तु देवता तो अत्यन्त कठिन कार्य भी इच्छा मात्र से कर लेते हैं। इसलिए उनके चरित का अनुसरण करना मनुष्य के लिए असम्भव है और वह उपदेशप्रद नहीं हो सकता है[3]। नायक के लक्षण में निर्दिष्ट "राजर्षि" पद का अर्थ है ऐसा क्षत्रिय जो अपने पावनत्वादि गुणो से ऋषितुल्य हो गया है[4]। नाट्यदर्पणकार "राजा" शब्द से समस्त क्षत्रिय जाति को ग्रहण करते हैं, चाहे वह अभिषिक्त हो या अनभिषिक्त।[5]

"चैतन्यचन्द्रोदय" नाटक का नायक चैतन्य एक धीरोदात्तनायक है। नायक के सामान्य लक्षणों का निरूपण करते हुए आचार्यो ने कहा है कि नायक मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, बाकपटु, प्रसिद्धवंशवाला, स्थिरयुवक, बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और

---

1. साहित्य दर्पण- 6/9.
2. वही. वृत्तिभाग- पृ.- 171
3. नाट्य दर्पण- 1.5 का वृत्तिभाग.
4. नाट्य शास्त्र- 18.10-11. की अभिनव भारती, पृ.- 411-412.
5. नाट्य दर्पण- 1.5 वृत्तिभाग, पृ.-20, डॉ0 नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली।

धार्मिक होता है[1]। चैतन्य के चरित में नायक के इन गुणों का कवि ने मञ्जुल सन्निवेश किया है। चैतन्यचन्द्रोदय के नायक के गुणों का नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व उसके नैसर्गिक-सौन्दर्य पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा।

चैतन्य-चन्द्रोदय नाटक के नायक चैतन्य प्रभु का सौन्दर्य लोकविस्मयकारी है। जब चैतन्य का जन्म होता है तब उनकी अनुपम छटा को देखकर कवि कहता है कि समस्त विश्व को पवित्र करने वाले इस सुवर्णकान्ति बालक के रूप में भगवान् ही ब्राह्मणवेश में अवतीर्ण हुए हैं[2]। चतुर्थ अंक में पूर्व की ओर से चैतन्य को आता हुआ देखकर आचार्यरत्न की पत्नी उनकी कल्पना पूर्व दिशा में उदित होते पूर्णिमा-चन्द्र से करती है[3]। अद्वैत भी चैतन्य के सौन्दर्य की तुलना चन्द्रमा से ही करता है[4]। प्रायः साहित्याचार्यों ने अपने साहित्य में सौन्दर्य की उपमा के लिए चन्द्रमा को ही अपना उपमान बनाया है। पञ्चम अंक में संन्यासग्रहण के पश्चात् जब चैतन्य नित्यानन्द द्वारा छल से अद्वैत पुर लाये जाते है तब उनके संन्यासी रूप में भी सौन्दर्यातिशय को देखकर अद्वैत उनमें धवल रक्तवर्ण से पूर्ण परिपक्व, वैराग्यरूप आम्रवृक्ष की कल्पना करता है[5]। श्रीखण्ड चन्दन से लिप्त चैतन्य के शरीर पर गैरिकरागरक्त वस्त्र पर शोभित श्वेतमाल्य और सुवर्ण वर्ण को देखकर द्वारपाल बरफ सान्ध्यराग तथा गंगाप्रवाह से रूचिर सुमेरू पर्वत की कामना करता है[6]। अष्टम अंक में ब्रह्मानन्द चैतन्य के विशाल भुजदण्डो की समानता सुवर्णनिर्मित दण्ड की कान्ति से, काञ्चनकेतकपत्र की कान्ति से और देहद्युति-नवीन-पुष्प निर्मित माल्य की कान्ति से करते हैं[7]। शिवानन्द सेन अपने पुत्र को चैतन्य का परिचय

---

1. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
   रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।
   बुद्ध्युत्साह स्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
   शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।। दशरूपक- 1.2
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -12- कनकाब्जकान्तकान्तिर्द्विजभवनेऽवततार बाललीलः।
3. वही. - पृ. - 124.
4. वही. - 4/5 - पृ. - 131.
5. वही. - 5/13, 14.
6. वही. - 5/20
7. वही. - 8/16.

देते हुए कहते हैं कि बिजली की पंक्ति के सदृश कान्तिशाली, सिंहराज के समान गति, सुवर्णदण्ड सदृश विशालबाहु, सिंहग्रीव, नवसूर्यसदृश वस्त्रधारी श्री गौरांग[1] महाप्रभु तुम्हारे आगे है[2]। राजा प्रतापरूद्र भी चैतन्य के सौन्दर्य (मुख) को देखकर तैरते हुए हँसो से युक्त जलाशय में ऊँचे नाल पर अवस्थित सुवर्ण-कमल से भ्रमित हो जाते हैं[3]।

चैतन्य चन्द्रोदय का नायक चैतन्य सौन्दर्य श्री से सम्पन्न होकर भी कामादि षड् मंत्रियों का विजेता था। युवावस्था के प्रारम्भ में ही उन्होंने लक्ष्मी की तरह सुन्दरी नवीन स्त्री का परित्याग कर दिया था तथा गया जाकर स्वेच्छा से पिता का श्राद्ध किया[4]। अभिषेकोत्सव पर मंगलघट हाथ में लिए घर से गंगातट पर्यन्त आती-जाती स्त्रियों को, जिनकी वाणी में प्रभु की लीला, आँखों में अश्रु, शरीर मे कम्प है तथा बालों में शैथिल्य एवं रोमाञ्चित कपालों को देखकर काम के प्रभाव से शंकित अधर्म को कलि का यह कथन-"भावेनोपहतं चेतो दृयेषां क्षोभकारकम्। निर्भावानां पुनस्तेषामाकारो नापराध्यति।"[5] शङ्का से उबारता है। द्वितीय अंक में चैतन्य के षड्भुज स्वरूप को देखकर भक्तिदेवी उनके छः हाथों को कामादिषड्वर्ग का निहन्ता और चतुर्वर्ग, भक्ति तथा प्रेम का दाता बताती है[6]। अष्टम अंक में जब राजा प्रतापरूद्र चैतन्य-महाप्

---

1. चैतन्य को गौरवर्ण होने के कारण गौरांग भी कहा जाता था।
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/7
3. वही. 10/14
4. वही. 1/30
5. वही. - पृ. -24
6. वही. - पृ. -60

के दर्शन की इच्छा सार्वभौम भट्टाचार्या के समक्ष रखते हैं और सार्वभौम चैतन्य से कहते हैं कि-भूपाल आपके चरणों के दर्शन करना चाहते हैं आप यदि अनुज्ञा दे तो उन्हे बुला लाऊँ । इतना सुनते ही चैतन्य हाथ से अपने कानों को बन्द कर लेते हैं और कहते हैं- जो निष्किञ्चन, भगवान् के भजन में लीन, भवसागर से पार जाने की इच्छारखने वाला है, उसके लिए विषयी पुरूष तथा स्त्रियों के दर्शन विष भक्षण से भी बुरा है ।[1]

षड्वर्ग विजेता के अतिरिक्त वह अलौकिक (कार्यो) वृत्ति भी प्रकट करते हैं । द्वितीय अंक में दर्जी जाति के मद्यपायी ने एक दिन नशे की हालत में चैतन्य को देखा और भगवान् (चैतन्य) के दर्शनमद् से विह्वल होकर उसने आँखे विकसित कर ली, उसका समस्त शरीर रोमाँचित हो गया, आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगा तथानाचते हुए अत्यन्त मदोन्मत्त हो गया[2] । गर्भाङ्क के माध्यम से चैतन्य स्त्रीभाव से राधानुकरण कर नृत्य करते हैं[3] । सार्वभौम भट्टाचार्या को जगन्नाथ प्रभु का प्रसाद खिलाते हैं जिसे खाते ही सार्वभौम के रोंगटे खड़े हो गये, अश्रु प्रवाह से वस्त्र गीले हो गये तथा पृथ्वी पर लोटने लगे । इस प्रकार सार्वभौम एक वेदान्ती से शीघ्र ही चैतन्य के भक्त हो गये- "अरे, एष संन्यासी किमपि मोहनमन्त्र जानाति । यतो भट्टाचार्योऽनेन गृहगृस्त इव कृतः[4] । तथाहि- विनावारी बद्धो वनमदकरीन्द्रो भगवता---[5]

सप्तम अंक में चैतन्य वासुदेव नामक एक गलत्कुष्ठी ब्राह्मण को जिसके कुष्ठ से निकल-निकल कर गिरने वाले कीड़ो को उठा-उठाकर वह पुनः उसी में रख दिया करता था, उसके कुष्ठ से निकलने वाले पीव रक्त से उसका अंगभरा था, उसी स्थिति

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ॰ - 273.
2. वही. - पृ. - 54.
3. वही. - पृ. -79.
4. वही. - पृ. - 216.
5. वही. - पृ. - 6/31.

में परममित्र की तरह गले लगाते है । चैतन्य के गले लगाते ही वह ब्राह्मण सद्यः अति सुन्दर शरीर हो गया[1] । इसी प्रकार गुण्डिचा- मंदिर में नाचते-नाचते मृतप्राय अद्वैताचार्य के पुत्र के शरीर पर हाथ फेरकर उसे जीवित कर देते हैं ।[2]

चैतन्यचन्द्रोदयम् में चैतन्य के दिव्यादिव्य नायकोचित सामान्य गुणों की एक झाँकी कलि के प्रस्तुत कथन में देखने को मिलती है-

सखे, नायं केवलो भूदेवबालः । अपि तु बालदेवदेवः ।

तथाहि-

हरिहरि हरिभक्तयोगशिक्षासरसमना जगदेव निष्पुणानः ।
हरिरिह कनकाब्जकान्तकान्तिर्द्विजभवनेऽवतारबाललीलः ।।
स्वयंप्रकाशाः किल कालदेशवयोऽन्वयादौ नहि सत्यपेक्षाः ।
उद्यातमात्रः खलु बालसूर्यो गाढं तमस्काण्डमपाकरोति ।।[3]

उसमें धीरोदात्त नायक के समस्त गुणा बाल्यावस्था से ही विद्यमान है-

शिवशिव शिशुतायामेवगाम्भीर्यधैर्य-
स्मृतिमतिरतिविद्यामाधुरीस्निग्धताद्याः
निखिलजनविशेषाकर्षिणो ये गुणास्तै-
रिह न विदधतां के विष्णुरित्येव बुद्धिम ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 234.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 376.
3. वही. - 1/14, 17.
4. वही. - 1/21.

नायक चैतन्य ईश्वरका परमभक्त है । नाटक के आदि में अपने जन्म के साथ ही चन्द्रग्रहण के व्याज से सभी लोगों से हरि केनाम का उच्चारण करवा देता है[1]। जब कभी चैतन्य के प्रिय मित्र ईश्वर का भजन-गान करने लगते है तब वह रोमाञ्च तथा अश्रु प्रवाह से सान्द्रानन्दमय हो जाते हैं और स्वयं भी नृत्य करने लगते हैं[2]। लोगों के हृदय में कृष्ण-नाम के साथ-साथ राधा भाव का समावेश कराने के लिए चैतन्य स्वयं राधा का अनुकरण गर्भाङ्क के माध्यम से करते है[3]। समस्त रात्रि श्रीवास के प्रागंण में कीर्तन-भजन करने के पश्चात् अन्तिम प्रहर में भगवान की प्राप्ति के लिए संसार की माया को त्याग कर "काटोआ" ग्राम जाकर संन्यास-ग्रहण कर लेते हैं[4]। श्रीवास प्रांगण में चैतन्य के कीर्त्तन एवं नृत्य का बड़ा मनोरम चित्रण कवि ने किया है-

गभीरैर्हुंकारैर्निजजनगणान्बर्हिणयति
हुतैर्बाष्पाम्भोभिर्भुवनमनिशं दुर्दिनयति ।
महःपूरैर्विद्युद्वलययति दिक्षु प्रमदय-
न्नसौ विश्वं विश्वंभरजलधरौ नृत्यति पुरः ।।[5]

संन्यास-ग्रहण के पश्चात् भगवद् प्राप्ति के आनन्द में समस्त इन्द्रियवृत्तियों के बिरत हो जाने पर मार्ग अथवा अमार्ग का भान न करते हुए उन्मुक्त भाव से बन्य हस्ती की भाँति जाते हुए चैतन्य को देखकर नित्यानन्द उन्हे मथुरा ले जाने के ब्याज से अद्वैतपुर ले जाते हैं । मार्ग में पड़ने वाली गंगा नदी को चैतन्य आनन्दोन्माद के कारण नित्यानन्द द्वारा उसे यमुना बताये जाने पर यमुना नदी ही समझकर उसकी स्तुति करते है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/15.
2. वही. पृ. - 54.
3. तृतीयअंक, चैतन्यचन्द्रोदयम्
4. चैतन्यचन्द्रोदयम् चतुर्थाङ्क.
5. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/9.

चिदानन्दभानोः सदा नन्दसूनोः परप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री ।
अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री पवित्रीक्रियान्नो वपुर्मित्रपुत्री ।।[1]

मथुरा जाते समय चैतन्य मार्ग में पड़ने वाले समस्त मन्दिरों रेमुना नगरवर्ती वेत्रधारी[2] की, तथा कटकराजधानी जाकर साक्षीगोपाल के दर्शन एवं स्तुति करते हैं[3]। चैतन्य पैदल ही दक्षिण की ओर प्रस्थान करके वहाँ आलाननाथदेव का दर्शन एव गज-वदनदेव की स्तुति करते हैं । तत्पश्चात् भगवन्नामकीर्त्तन करते हुए कूर्मक्षेत्र पहुँचे जहाँ कूर्मदेव को प्रणाम किया । नृसिंह क्षेत्र जाकर भगवान् नृसिंह के दर्शन स्तुति एवं प्रदक्षिणा की[4] । रामानन्द राय चैतन्य को गीत के माध्यम से राधा कृष्ण के निष्कपट प्रेम का वर्णन करते हैं जिसे सुनकर चैतन्य उसी में रम जाते हैं और आनन्दविभोर होकर अपने कर कमल से रामानन्द का मुख मूँद लेते हैं । इसे भट्टाचार्य इस प्रकार कहते हैं-

महाराज ! निरूपाधि हि प्रेम कथंचिदप्युपाधि न सहते इति पूर्वार्धे भगवतोः कृष्णराधयोरनुपधि प्रेम श्रुत्वा तदैव पुरूषार्थीकृतं भगवता ।[5]

नीलाचलाधीश भगवान् जगन्नाथ के रथयात्रोत्सव पर चैतन्य अपने समस्त मित्रो के साथ रथ के आगे-आगे नृत्य करते हैं-

प्रचलति जगन्नाथे गौरोऽपसर्पति संमुखा-
त्स्थितवति जगन्नाथे गौरः प्रसर्पति तत्पुरः ।
अतिकुतुकिनावेवं देवौ परस्परमुत्सकौ
कलयत इव क्रीडां नीलाचलेन्द्रमुनीश्वरौ ।।[6]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/10
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/8
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/13
4. पृ. - 232-234
5. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 243 पृ०
6. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 8/49

दशम अंक मे जगन्नाथप्रभु का दर्शन का अवसर न पाने के कारण चैतन्य विरहविधुर अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । स्नान-ध्यान, नामकीर्त्तन, प्रणाम भिक्षा आदि किसी का भी ग्रहण नहीं करके निश्चेष्ट हो जाते हैं । विरहकलित चैतन्य को विनोदित करने के लिए उनके मित्रगण भगवद्कीर्त्तन का प्रारम्भ करते हैं जिसकी ध्वनिसुनकर ही चैतन्य का शरीर आनन्दकन्दलित होता है[1] । जगन्नाथप्रभु की रथयात्रा महोत्सव सन्निहित होने पर चैतन्य स्वयं गुडिण्चा-मण्डप के परिमार्जन हेतु वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । अपने अनुचरों के साथ चैतन्य भी हाथ में झाड़ू लेकर गुण्डिचा-मण्डप में बैठकर मकड़े के जाले आदि को हटाते है, जहाँ हाथ नहीं पहुँचता था उसे साफ करने के लिए अपने कन्धे पर किसी को चढ़ाकर साफ करवाते थे । एकत्रित कूड़े को अपनी चादर में रखकर स्वयं बाहर फेंक आते थे । इस प्रकार मूलमण्डल जगमोहन तथा भोगमण्डप की सफाई एवं धुलाई करते है-

> कूपात्केऽपि समुद्धरन्ति कतरः कस्यापि हस्ते दरौ
>
> सोऽप्यन्यस्य करे स चापरकरे सोऽम्भः करे कस्यचित्
>
> इत्थं श्रृंखलया घटानथ नयन्पूर्णानिपूर्णास्त्यजन्
>
> पूर्णापूर्णपरिग्रहत्यजनयोः शिक्षां व्यतानीज्जनः ।।[2]

सारी सफाई कर लेने के बाद चैतन्य एवं उनके अनुयायी भगवान् का कीर्त्तन प्रारम्भ करते हैं और भगवत् प्रसाद को ग्रहण करते हैं । जगन्नाथ प्रभु के रथारोहण के समय चैतन्य प्रेमानन्द-पराधीन होकर कभी मृगराज की तरह तड़प उठते हैं, कभी गजराज की भाँति दौड़ते है, कभी आनन्द की तरंग में अलात-चक्र की तरह घूमने लगते हैं । चैतन्य के प्रेमानन्द का कवि ने अत्यंत हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है ।[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 364-366
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/35
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/51. 53, 54, 55, 56, 57.

रोमांचा: पुनरून्मिषन्ति नयने भूयोऽपि पर्यश्रुणी
निष्ठेवश्च पुन: प्ररोहति पुन: श्वासोऽधरंधावति ।
सर्वेषामभितोऽभित: समुदयत्याहलादकोलाहलो
देवो जागरयांचकार हृदयस्वानन्द मूर्च्छा त्यजन् ।।[1.]

इस प्रकार चैतन्य में ईश्वर के प्रति भक्तिभाव पुष्कल रूप में विद्यमान है ।

चैतन्यचन्द्रोदय का नायक चैतन्य स्नेह, दया, उदारता एवं दयादिक गुणों की निधि है । द्वितीय अंक में सांसारिक वैषम्य से परेशान विराग को भक्तिदेवी चैतन्य की दयालुता के बारे में बताती है "विराग न जानसि । श्रृणु । अस्माकमेव कृते कोऽपि महाकारूणिकों भगवान्भव बन्धच्छेदकचरितो गौरचन्द्रोऽवतीर्ण:"।[2.]

द्वितीय अंक में एक गरीब ब्राह्मण जिसका समस्त शरीर गल गया था, चैतन्य को देखकर उनसे अपना रोग दूर करने को कहता है । चैतन्य उसे रोग का कारण बताकर उसे रोग मुक्त कर देते हैं[3.] । पचमांक मे जब चैतन्य मथुरागमन करना चाहते है किन्तु नित्यानन्द उनकी प्रेमानन्द अवस्था को देखकर मथुरागमन के व्याज से अद्वैतपुर ले आते है, उस समय भी चैतन्य नित्यानन्द पर गलत मार्ग निर्देशन के कारण क्रुद्ध न होकर अत्यन्त स्नेह से अद्वैतादि मित्रों को गले लगाते है और नित्यानन्द से कहते हैं-

§ बाहुभ्यामालिगंयोत्थापयन् । सबाष्पम् । § भवतु । भो अद्वैत, त्वमेव वृन्दावनं त्वय्यनवरतं भगवत्पादकमलसंयोगात् । तत्कथय कुत्रागतोऽस्मि । श्रीपादस्य नाट्येनैव नाटितोऽस्मि ।[4.]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/52.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -51.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -63-64.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -166-167.

अद्वैतपुर से मथुरा जाने के लिये उद्यत चैतन्य अपनी माता, बन्धुगणों एवं मित्रों के स्नेह के कारण कुछ दिन वहीं रूक जाते हैं । जाने से पूर्व समस्त प्रियजनों की आज्ञा की प्रतीक्षा करते हैं-

भो अद्वैतप्रभृतय इदं श्रूयतां यज्जनन्या
युष्माकं च प्रणयिसुहृदामाज्ञया न प्रयातम् ।
विघ्नस्तेन व्यजनि मथुरां गन्तुमीशे न तस्मा-
दाज्ञां सर्वे ददतु कृपया हन्त यायामिदानीम् ।।[1]

षष्ठांक में वैष्णव बनाये जाने पर प्रसन्न सार्वभौम चैतन्य की प्रशंसा करते हैं उन्हें स्पर्शमणि एवं कृष्णरूपत्व के समान बताते हैं, जिसे सुनकर चैतन्य अपने कान बन्दर कर लेते हैं और कहते हैं--§ कर्णोपिधाय § भट्टाचार्य, भवद्वात्सल्यपात्रमेवास्मि । तत्किमिदमुच्यते ।[2]

सप्तमांक में गलत्कुष्ठी ब्राह्मण को स्नेहवश गले से लगा लेते हैं[3] । विषयी पुरूष तथा स्त्रियों के दर्शन को विषभक्षण से भी बुरा समझने वाले चैतन्य स्नेह दयालुतावश राजा प्रतापरूद्र पर भी अपना अनुग्रह करते हैं--

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम्
न भजेत्सर्वतोमृत्युरूपास्यमनरोत्तमैः ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 6/2.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 221.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -233.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -8/54.

चैतन्य का पथ सबके लिये प्रशस्त था । यवन भी उनकी हरिबोल ध्वनि को आत्मसात् करके मोक्षमार्ग पर चलने लगे थे । चाण्डाल तक उनके वैसे ही निकट हो सकते थे जैसे कोई महाब्राह्मण ।

नायक की मधुरता दयालुता का इससे अधिक क्या स्वरूप हो सकता है ।

चैतन्य परम यशस्वी तथा लोकप्रिय नायक है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही पारिपार्श्विक् सूत्रधार से जब चैतन्य के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करता है तब उसे गर्भस्थित के समान बताकर उनके यश का वर्णन करता है--

" मारिष, अद्यापि जननीजठरपिठरपिहित एवासि यदिदं महाप्रभोस्तस्य नाम यश च न श्रुतम् । श्रूयताम् '

आश्चर्य यस्य कन्दो यतिमुकुटमणिमधिवाख्यो मुनीन्द्रः
श्रीलाद्वैतः प्ररोहस्त्रिभुवनविदितः स्कन्ध एवावधूतः ।
श्रीमद्वक्रेश्वराधा रसमयवपुषःस्कंधशाखास्वरूपो
विस्तारो भक्तियोगः कुसुममथ फल प्रेम निष्कैतव यत् ।।

अपि च-

ब्रह्मानन्द च भित्वा विलसति शिखंर यस्य यत्रात्तनीडं
राधाकृष्णाख्यलीलामयखगमिथुनं भिन्नभावेन हीनम् ।
यस्यच्छाया भवाध्वश्रमशमनकारी भक्तसंकल्पसिद्धि-
हेतुश्चैतन्यकल्पद्रुम इव भुवने कश्चन प्रादुरासीत् ।।[1]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/6-7.

अधर्म को समझाते हुये कलि के कथन से ज्ञात होता है कि चैतन्य मात्र एक ब्राह्मण बालक न होकर ईश्वर का अवतार है जिसके जन्म लेने मात्र से ससार में विषमता व्याप्त करने वाले कलि अधर्म आदि में भय व्याप्त हो गया । जिस प्रकार सूर्य उदय होते ही गाढ़ अन्धकार का नाश कर देता है--

स्वयंप्रकाशा: किल कालदेशवयोऽन्वयादौ नहि सव्यपेक्षा:
उद्यातमात्र: खलु बालसूर्यो गाढं तमस्काण्डमपाकरोति ।।[1.]

भक्तिदेवी के कथन से ज्ञात होता है कि चैतन्य की महिमा चारों ओर व्याप्त है । लोग उन्हें देखते ही गृहगृस्त्र की तरह हो जाते हैं, उनका अभिप्राय सभी स्वयं समझ जाते हैं तथा तदनुकूल आचरण करने लगते हैं[2.] । ब्रह्मानन्द ने सुवर्णवर्ण, हेमाङ्ग, वरांग, चन्दनांगदी इत्यादि भगवान् विष्णु के नामों को चैतन्य द्वारा ही सार्थक माना है ।[3.]

पंचमांक में नित्यानन्द द्वारा चैतन्य को पुन: अद्वैतपुर लाये जाने पर उनके विरह में नाममात्र को जीवन धारण करने वाले समस्त जन अपने मध्य चैतन्य को पाकर अपने को सौभाग्यशाली होने की घोषणा करते हैं--

अद्यान्ध्यं गतमेव नो नयनयोरद्य प्रसन्ना दिश:
शुष्काश्चाद्य जिजीविषावृततय:प्रोन्मीलयन्त्यंकुरान् ।
नष्टेऽन्त:करणे च केनचिदहो चैतन्यमप्याहितं
येनास्माकमहो बताद्य भविता चैतन्यचन्द्रोदय: ।।[4.]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/17.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 53.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 8/19.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 5/25.

चैतन्य के आकस्मिक आगमन मात्र से लोगों में ऐसा आनन्द चमत्कार व्याप्त होता है कि दिशा-दिशाओं से आबाल-युवकवृद्ध पण्डितगण उनके दर्शनार्थ उपस्थित होने लगते है, बिना किसी उपदेश के लोगों के मन में ऐसा भाव जग जाता है कि सभी रोमाञ्चित तथा साश्रु नयन हो जाते हैं, तथा सभी अपना-अपना मत त्यागकर चैतन्य के मत में आ जाते हैं[1]। जगन्नाथपुरी में भगवान् जगन्नाथ के वर्तमान रहते हुये भी चैतन्य के उत्तरदिशा की ओर प्रस्थान करने पर राजा प्रतापरूद्र का कथन है--

यद्यपि जगदीधीशो नीलशैलस्य नाथः
प्रकटपरमतेजा भाति सिंहासनस्थः ।
तदपि च भगवच्छ्रीकृष्णचैतन्यदेवे
चलति पुनरूदीचीं हन्तशून्या त्रिलोकी ।।[2]

इस प्रकार चैतन्य समस्त जनों के बीच इतने लोकप्रिय थे कि वे जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँ उनकी पद्धूलि लेने वालों के इतने हाथ गिरते थे कि मार्ग खाइयो से पट जाता था ।[3]

नायक के वैयक्तिक गुणो से सम्बद्ध दया, उदारता, लोकप्रियता आदि के अतिरिक्तनाटक में ऐसे भी बहुत से स्थल हैं जहाँ पर उनकी शास्त्रों एवं मुनियों में श्रद्धा के दर्शन होते हैं । निष्कंचन, भगवान् के भजन में लीन भवसागर के पार जाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिये वह विषयी पुरूष तथा स्त्रियों का दर्शन विष भक्षण से भी बुरा मानते हैं[4]। उनके अनुसार विषयी पुरूषों तथा स्त्रियों के आकार से भी डरना चाहिये, जैसे सर्प के आकारमात्र से मन को भय होता है--

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 247.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 9/6. चैतन्य ने अपना नाम सन्यास ग्रहण के बाद-कृष्ण-चैतन्य रख लिया था ।
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 323.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 8/23.

आकारदपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि ।
यथाहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेऽपि ।।[1]

प्रथम अंक में संयोगवश सन्यासिराट् ईश्वरपुरी के दर्शन होने पर वह उन्हें अपना गुरू बना लेता है और उनसे ही माधवपुरी के वशवर्ती दशाक्षर मन्त्र की दीक्षा लेते है ।[2]

चतुर्थ अंक में चैतन्य काटोआ ग्राम जाकर केशव भारती नामक यतीन्द्र से संन्यास ग्रहण की दीक्षा लेते है[3] । समस्त महात्माओं के प्रति श्रद्धा भक्ति से ही भगवद्सेवा की प्राप्ति मानता है जिससे ही इस दुरन्त अन्धकार का पार सम्भव है ।

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महद्भिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दांघ्रिनिषेवयैव ।।[4]

परमानन्द पुरी को देखकर वह उन्हे प्रणाम करता है एवं उठकर सम्मान प्रदर्शित करता है । -------"(इत्युत्थाय प्रणम्य) स्वामिन् पुरीश्वरोऽसि"[5] संन्यासियों के प्रति नायक की श्रद्धा अधोलिखित नेपथ्यकथन से भी ज्ञात होती है--

ईश्वरपुरी निषेवणरतः स्वतः कृष्णभक्तश्च ।
अयमेति विशदहृदयो विरक्तिमान्सकलविषयेषु ।।[6]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 8/24
2. वही. पृ. - 18
3. वही. पृ. - 153
4. वही. 5/1
5. वही. पृ. - 262.
6. वही. 8/12.

शिष्य मुकुन्द के मुख से यह जानकर कि ब्रह्मानन्द भारती उसके [चैतन्य के] दर्शन करने की इच्छा से स्वयं यहाँ आना चाहते हैं, चैतन्य उन्हें रोकते हैं कि उन्हें नहीं मैं स्वयं ही वहाँ जाऊँगा---"शान्तम्, मान्याः खलु भवन्त्यमी । तन्मयैव गन्तव्यम्।"[1]

सप्तम अंक में सनातन गोस्वामी को पाकर भी नायक उन्हें गले से लगा लेता है[2]। इस प्रकार नायक में गुरूजनों के प्रति अभिवादनादि गुणों का प्राचुर्य द्रष्टव्य है ।

इस प्रकार चैतन्यचन्द्रोदय नाटक का नायक चैतन्य के चारित्रिक विशेषताओं के उपर्युक्त विश्लेषण से यह सम्यक् रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें नायकोचित समस्त गुणों का रमणीय संगम हुआ है । वह दया के प्रकर्ष एवं धैर्य की पराकाष्ठा की दृष्टि से आदर्श नायक है । वह इना दयालु, धीर, उदात्त एवं महनीय नायक है कि उसका औदार्य प्रत्येक युग तथा देश के लिये प्रेरणास्पद है ।

श्रीवास-

श्रीवास चैतन्यप्रभु के पार्षद वृन्दों में से एक ब्राह्मण नारद के अंश हैं[3]। चैतन्य के आविर्भाव से पूर्व-बाल्यावस्था से लेकर सोलहवें वर्ष पर्यन्त वह एक दुर्दान्त था, उसकी मनोवृत्ति अच्छी नहीं थी, आयु एक ही वर्ष शेष थी । उसी समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में चैतन्य ने उसे भगवद् महिमा बतायी । वह भगवन्नाम की शरण में आ गया, जिस कारण चैतन्य ने उसके जाते हुये प्राणों को बचाया था[4]। तभी से वह चैतन्य का भक्त हो गया । श्रीवास तत्त्वों का भी ज्ञाता है । अद्वैत के प्रति कहे गये चैतन्य के इस कथन- "उन्माददशायां केन किं न भण्यते ।" का प्रत्युत्तर वह इस प्रकार देता है--

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 267.
2. वही. पृ. - 334.
3. वही. 1/18. श्रीवासनामा द्विजकुलतिलको नारदीयं हि तेजः ।
4. वही. पृ. - 32-33.

"भगवन्, अन्योन्मादस्तु व्याधिरेव । अयं तु तवोन्मादो दृष्टृश्रोतॄणामपि व्याधिनिर्मूलकः । किं च जीवस्तु वस्तुतः क्षुद्रानन्देनापि विलुप्तधीर धीर एव भवति। ईश्वरस्य त्वानन्दस्वरूपत्वाज्ज्ञानस्वरूपत्वाच्च किं केनापि बाध्यताम् । तेन स्वाधीनानन्दः स्वाधीन ज्ञानश्चायम् ।"

श्रीवास अपने मित्रगणों के साथ अत्यन्त प्रेम एंव स्नेहसिक्त व्यवहार करने वाला है । अपने मित्र अद्वैत को चैतन्य के षड्भुज स्वरूप दर्शन से आनन्दित देखकर चैतन्य से कहता है कि हे प्रभु आप कभी भी इनके हृदय से अपने रूप को तिरोहित मत कीजियेगा, हमें आपके उस रूप के दर्शन न मिले कोई बात नहीं, हमारे लिये आपका यही रूप परम सम्पत्ति है[1]। अद्वैत के आनन्द सागर को देखकर चैतन्य उसे तन्द्रा-दोष की संज्ञा देते हैं श्रीवास उसका खण्डन करते हुए उसे आनन्द-तन्द्रा कहता है तब चैतन्य अद्वैत के प्रति उसकी प्रीति को देखकर उसका उपहास करते हैं इस पर वह कहता है--

"कृष्णेन सह तवाद्वैतं यत्तत्पथमातिन एव वयम् । कोऽत्र संदेहः ।
किंतु नायमद्वैताचार्यस्य दोषः, अपि तु तवैव ।
यतस्त्वयोक्तम् "तद्भवते दर्शयिष्ये" इति[2]।"

श्रीवास समस्त जनों का दुःख समझने वाला है । चतुर्थांक में चैतन्य के संन्यास-ग्रहण के बाद वह चैतन्य की माता शची देवी के दुःख का ध्यान कर गंगादास को उनकी जीवन-रक्षा में नियुक्त करता है--

तन्मात्रपुत्रा बत सा तदेकचक्षुस्तदेकस्वसुखानुभूतिः ।
मातापि तस्मिन्गुरुदेवबुद्धिर्न तं विना जीवति साक्षण च[3]।।

---

1. भगवन्, तवैव नाद्यमिदम् । बहिर्न दर्शितमस्माभिरपि न दृश्यते । इति भवत्वस्माकं तवैतदेव स्वरूपं महाधनम् । किंत्वधुना धुनातु भवान् । माऽतःपरं परंतप चेतोऽस्य त्रिरोधापयान्तः करणतोऽस्य तद्रूपम् ।चैतन्यचन्द्रोदयम्-पृ. -60.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 74-75.
3. वही. - 4/18.

चैतन्य के संन्यास-ग्रहण से श्रीवास अत्यन्त दुःखी होता है और ईश्वर-क्रीडा को न समझ पाने के कारण रोता है-

भो नाथ विश्वभर, क्वासि ।
पूर्वं मृतः कथमहो बत जीवितोऽहं
भूयोऽपि मारयसि किं बत जीवयित्वा ।
दुर्ललिता तव विभो न मनोऽधिगम्या
नन्वीश्वरो भवति केवलबाललील: ।।[1]

इस प्रकार चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में श्रीवास को एक भक्त, चैतन्य का पार्षद एंव कृष्णनाम-संकीर्त्तन के प्रचारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

नित्यानन्द-

नित्यानन्द भी चैतन्य के पार्षद वृन्दों में से एक अवधूत संकर्षण स्वरूप है[2]। चैतन्य के संन्यास-ग्रहण हेतु अदृश्य-गमन के समय यह भी उनका अनुगमन करता है । संन्यास-ग्रहण के बाद आनन्दोन्माद के वशीभूत चैतन्य को देखकर जिनकी गति प्रबलवायु से चालित केशर पराग पुंज की भाँति है, जिनकी इन्द्रियाँ-वृत्तियाँ विरत हो गयी है, मार्ग अमार्ग का भान् नहीं रह गया है, निरूद्देश्य भाव से जहाँ तहाँ गतिमान है, अत्यन्त चिन्तित हो जाता है और इन्हें वृन्दावन जाने के व्याज से अद्वैतपुर ले आता है । स्वयं नित्यानन्द का कथन है-

आनन्दवैवश्यमिदं महाप्रभोर्बभूव नः सम्प्रति जीवनौषधम् ।
विभ्रामयन्वर्त्म विवेचनाक्षमं नेष्येऽहमद्वैतविभोर्गृहानमुम् ।।[3]

---

1. चैतन्य चन्द्रोदयम्- 4/23.
2. नित्यानन्दावधूतो मह इह महितं हन्त सांकर्षणं यः । चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/18.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/7.

शची-

शची जगन्नाथ मिश्र की पत्नी और चैतन्य की माँ हैं[1]। शची देवी एक वात्सल्यमी, स्नेहमयी माँ हैं। चैतन्य की संन्यासियों के प्रति श्रद्धा, भक्तिदेखकर उनका स्नेहसिक्त हृदय किसी अज्ञात आशंका से भयभीत हो जाता है और वे आचार्य रत्न की पत्नी से इस विषम में पूछती हैं--

"भगिनि, संन्यासिनं प्रति कथं श्रीविश्वंभरस्यैतादृश
आदरः। विजातीयवासनः खलु संन्यासी।"[2]

अपनी इसी आशंका के कारण वह विश्वरूप द्वारा चैतन्य को देने के लिये दी गयी पुस्तक भी आग में जला देती हैं[3]। चैतन्य को ही अपना सर्वस्व मानती हैं और उन्हें ही कृष्ण समझती हैं--

"वत्स, त्वमेव सर्वम्। तव प्रसादतो मम दुःखं नास्ति।
किंतु यथा संततं त्वां प्रेक्षे तथैव कर्त्तव्यम्।"[4]

शची अत्यन्त धैर्य धारण करने वाली हैं। चैतन्य के संन्यास-ग्रहण कर लेने के बाद अद्वैत आदि मित्रगण उन्हें समझाते है और उनसे स्पष्ट नहीं कहते। तब वे स्वयं सारी स्थिति को समझकर कहती हैं--

किंगोप्यते भवद्भिः स खलु ज्येष्ठस्य वर्त्म शिश्राय।
लोकोत्तरचरितानां तुल्ये काठिन्यकारूण्ये।।[5]

---

1. नवद्वीपे जगन्नाथनाम्नों मिश्रपुरदराज्जातः शच्यां कुमारोऽयं मम मर्माणि कृन्तति। चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ.- ।।
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ.- 123.
3. वही.- पृ.- 125.
4. वही.- पृ.- 127.
5. वही.- 4/38.

पंचमांक में नित्यानन्द द्वारा चैतन्य को छलपूर्वक अद्वैतपुर लाये जाने पर वह उनके आगमन से प्रसन्न होती हैं किन्तु पुनः चले जाने से भयभीत भी है । अतः चैतन्य को देखकर भक्ति, वात्सल्य और परितोष से पूर्ण अश्रुगद्गद् स्वर से भरकर उनका उत्कण्ठा पूर्वक आलिंगन करती हैं और कहती हैं कि वैराग्य ही सही, भक्त आदि तुम्हें जो कुछ होना है हो, किन्तु अब मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगी--

वैराग्यमेव भव किं किमु वानुभूति-
भक्तिर्नु वा किमु रसः परमस्तनुभृत् ।
तात स्तनंधयतयैव भवन्तमीक्षे
लब्धोऽधुनापि न कदापि पुनस्त्यजामि ।।[1]

शची देवी एक ज्ञानमयी माँ भी हैं । माँ के स्नेहवश जब चैतन्य वृन्दावन नहीं जा पाते हैं तब वह प्रेमपूर्वक अपने मित्रों से कहते हैं कि संन्यासी वेष धारण करने के बाद आप लोगों के साथ अब मैं नहीं रह सकता । तब शची अपना ख्याल छोड़कर चैतन्य की खुशी के लिये उसे जगन्नाथ क्षेत्र गमन की आज्ञा दे देती हैं और वहीं से उनक समाचार प्राप्त करती हैं--

"भोः भोः, यदि धर्मदोषो भवति तदात्मनः सुखकृते तस्य खलजनकृता किंवदन्ती कथं करणीया । आत्मनो यथा तथा भवतु । ततो जगन्नाथक्षेत्रमेव यद्गच्छति तदेव भद्रम् । कदाचित्प्रवृत्तिरपि लक्ष्यत इत्याशा भवति ।"[2]

इस प्रकार शची देवी एक आदर्श ममतामयी माँ एवं हिन्दू धर्म में आस्था रखने वाली भारतीय नारी के रूप में प्रस्तुत की गयी है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/27.
2. वही. - पृ. - 183.

सार्वभौम भट्टाचार्य-

सार्वभौम भट्टाचार्य एक वेदान्ती ब्राह्मण थे[1]। चैतन्य उन्हें भगवान् जगन्नाथ का प्रसाद खिलाते है जिसके खाते ही वह रोमांचित हो जाते हैं और उनका वज्र सदृश कठोर हृदय अमृत की तरह सरस हो जाता है । वेदान्त छोड़कर वह भी वैष्णव हो जाते हैं--

"अहो, अवितथमेवाह गोपीनाथाचार्यः।अस्माकमपि चेतो यदीदृशमजनि तदयमीश्वरः एव ।"[2]

भट्टाचार्य एक शास्त्रज्ञ भी हैं । जब चैतन्य उनसे शास्त्रका अर्थसार पूछते हैं तब वह शास्त्रों के विभिन्न मतों, ब्रह्मतत्त्व, श्रुतियाँ, श्रुतियों में ब्रह्म की सविशेषता। आनन्द प्रकार,[3] तथा शास्त्रों का चरम लक्ष्य "भगवान् की निष्काम भक्ति" को बताते हैं

शास्त्रं नानामतमपि तथा कल्पितं स्वस्वरूच्या
नो चेत्तेषां कथमिव मिथःखण्डने पण्डितत्वम् ।
तत्रोद्देश्यं किमपि परम भक्तियोगो मुरारे-
र्निष्कामो यः स हि भगवतोऽनुग्रहेणैव लभ्यः ।।[4]

वह परम ज्ञानी हैं । राधा कृष्णा के निष्कपट प्रेम को रामानन्द के मुख से सुनकर आनन्दविभोर चैतन्य अपने कर कमल से रामानन्द का मुख मूँद देते है, जिसका तात्पर्य वह राजा प्रतापरूद्र को समझाते है कि राधा कृष्ण के निष्कपट प्रेम को चैतन्य-प्रभु ने पुरूषार्थ मान लिया और उसे रहस्य रखने के उद्देश्य से उन्होंने रामानन्द का मुख मूँद देते हैं---

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ० - 201.
2. वही. - पृ. - 220.
3. वही. - पृ. - 222-225.
4. वही. - - 6/34.

"महाराज । निरूपाधि हि प्रेम कथंचिदा युपधिं न सहते इति पूर्वार्धे भगवतो: कृष्णराधयोरनुपाधिं प्रेम श्रुत्वा तदेव पुरूषार्थीकृतं भगवता । मुखपिधानं चास्य तद्रहस्यत्व प्रकाशकम् ।[1]

प्रतापरूद्र रामपद और कृष्णपद का तत्व उनसे पूछते हैं जिसे बताते हुये वे कहते हैं--राम तथा कृष्ण शब्द का परब्रहम रूप अर्थ समान है । उनके अनुसार राम कहने से प्रेमियों के हृदय में रघुनाथ की स्फूर्ति होती है और कृष्ण कहने से ब्रजराज कुमार की--

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ पर ब्रहमाभिधीयते ।।
कृषिर्भूवाचक: शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक: ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।[2]

इनके अनुसार कृष्णनाम रामनाम से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि राम का नाम अन्य सहस्र नाम के बराबर है । सहस्रनाम की तीन आवृत्तियों से जो फल प्राप्त होता है वह कृष्ण के नाम की एक ही आवृत्ति से फलवान् हो जाता है । इस प्रकार वह कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति भी प्रदर्शित करते है--[3]

सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने ।
सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्या तु यत्फलम् ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 243.
2. वही. - 7/21-22.
3. स्वामिन् अत:परमस्माकमप्येतदेव मतं बहुमतं सर्वशास्त्रप्रतिपाद्य, चैतदिति । चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 255.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 7/23.

नाटक में कुछ ऐसे भी स्थल है जिनसे सार्वभौम की मुनियों के प्रति श्रद्धा के दर्शन होते हैं । जब चैतन्य दक्षिण यात्रा पर जाते हैं तो सार्वभौम उन्हें रामानन्द मुनि से मिलने के लिये कहते हैं[1] । इसी प्रकार नेपथ्य से ईश्वर की सेवा में लगे रहने वाले स्वयं कृष्णभक्त, पवित्रहृदय, समस्त विषयों से विरक्त गोविन्द नामक भक्त के आगमन को सुनकर सार्वभौम अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाते हैं--

"{आकर्ण्य} अये, भगवत्पुरपरिचारक: कोऽपि समायाति । कस्तावदसौ परीक्षामहापात्रस्य प्रतिनिधिर्वा । नासौ तथा विरक्त:[2] ।"

सार्वभौम दया भाव से भी युक्त हैं । चैतन्य-प्रभु द्वारा विषयी पुरूष तथा स्त्रियों के दर्शन से भी इन्कार कर देने पर सार्वभौम राजा प्रतापरूद्र को चैतन्य के दर्शनों के प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित देखकर एक उपाय द्वारा उन्हें चैतन्य के दर्शन करवाते हैं--

"जनान्तिकं केवलमनुरागमेव इतं कृत्वाऽद्वितीय एव राजवेशं विहाय केनाप्य-विदित एव भगवतो जगन्नाथदेवस्य रथोत्सववासरे नृत्य विनोदश्रममपनेतुं विजनमाराम-मवगाहमानयानन्दास्वादविरतवहिर्वृत्तिकमकस्मादुपेत्य विलोकयन्तु भगवन्त भवन्त इति इतोऽन्यथा न तद्घटते[3] ।"

इस प्रकार चैतन्य चन्द्रोदय नाटक में सार्वभौम एक वेदान्ती से परिवर्तित वैष्णव एवं कृष्ण-भक्ति में आस्था रखने वाले समस्त भक्तों के प्रति आदर भाव रखने वाले कृष्ण-भक्त के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं ।

---

1. देव ! अत एव निवेदितं सोऽवश्यमेव द्रष्टव्य इति । चैतन्यचन्द्रोदयम्-पृ. -255.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -265.
3. वही. पृ. - 279.

अमूर्त पात्र-

रूपक कथाओं में अमूर्त पात्रों का स्वतन्त्रप्रयोग होता है । अमूर्त तत्व, अपनें मूल रूप में, मूर्त कल्पना से आरोपित मूर्त रूप धारण कर पात्र बन जाते हैं । इसी परिप्रेक्ष्य में चैतन्यचन्द्रोय नाटक के कुछ अमूर्त पात्रों का दृश्यावलोकन यहाँ किया जा रहा है ।

कलि-

कलि काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि मंत्रियो तथा अधर्म से सेवित कलियुग की कल्पना से आरोपित एक अमूर्त पात्र है। जिसके राज्य में धर्म, भक्ति, प्रेम स्नेह, सत्य, शमदम, नियम, शान्ति, दया आदि का सर्वथा अभाव है । इस विषय में चैतन्य के जन्म से हरिभक्तियोग की शिक्षा की स्थापना और अपनी समाप्ति की कल्पना से भयभीत स्वयं कलि का कथन है--

"सखे, नायं केवलो भूदेवबाल: । अपि तु बालदेवदेव: ।

तथाहि-

हरिहरि हरिभक्तियोगशिक्षासरसमना जगदेव निष्पुणान: ।
हरिहरि कनकाब्जकान्तकान्तिर्द्विजभवनेऽवततार बाललील: ।।[1]

कलि वास्तविक वस्तु परविचार करने वाला है । वह चैतन्य को विशेष गुणों के कारण स्वयं-प्रकाश परमात्मा का अंश मानता है तथा अधर्म को भी चैतन्य की निन्दा करने से रोकता है[2]। और ईश्वर के प्रभाव से अवगत कराता है । उसके अनुसार ईश्वर काल, देश, अवस्था, वंश आदि की अपेक्षा नहीं किया करते[3]। ईश्वर

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/14.
2. वही. - पृ. -11.
3. वही. - पृ. -13.

आनन्दमय होता है जो स्वयं आनन्दित रहकर दूसरों को भी आनन्दित करता है । समस्त जन के अन्त: करण का आकर्षण करना ही ईश्वर का असाधारण चिह्न होता हैं--

"सखे, सकलजनान्त:करणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणं लिंगम् । आनन्द-मयत्वात् । आनन्दमयो हि जीवानानन्दयितुमर्हति ।

तथाहि-

शिवशिव शिशुतायामेव गाम्भीर्यधैर्य-
स्मृतिमतिरतिविद्यामाधुरीस्निग्धताद्या: ।
निखिलजनविशेषाकर्षिणो में गुणास्तै-
रिह न विदधतां के विष्णुरित्येव बुद्धिम् ।।[1]

कलि तत्व का ज्ञाता भी है । चैतन्य के महाभिषेकोत्सव को देखकर शंकित अधर्म को कलि ईश्वर के आधुनिक आवेश के बारे में बताता है कि ईश्वर का महाप्रभाव नित्य होता है, तथापि स्वाधीन होने के कारण ईश्वर अपने ईश्वरत्व को सदा प्रकट नहीं करते । ईश्वर के साथ ही उनकी लक्ष्मी भी उनकी शक्ति के रूप में अवतरित होती है--

नित्यो यद्यप्यहह बलवानीश्वरस्येशभाव:
स्वाधीनत्वात्तदपि न स तं सर्वदैव व्यनक्ति ।
हन्तादत्ते कुतुकवशतो लौकिकीमेव चेष्टां
लीलामाहु: परमसुरमा तस्य तामेव तज्ज्ञा: ।।[2]

अभिषेकावसर के बाद चैतन्य के भक्तों को अश्रु, रोमाच तथा आनन्द निद्रा से ग्रसित देखकर कलि अधर्म को विद्याशील तप, आश्रम आदि से युक्त भी चैतन्य की निन्दा करने वाले लोगों के पास नियुक्त करता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 14.
2. वही. - 1/35.

अधर्म-

अधर्म कलि का सेवक है, जिसका कार्य कलि के राज्य (कलियुग) में धर्म को निर्मूल करना है । अधर्म कलि का सच्चा सेवक है वह किसी से उसकी निन्दा नहीं सुन सकता । ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही प्रस्तावना के माध्यम से सूत्रधार द्वारा कलि के लिये प्रयुक्त "दोषाकर" शब्द को सुनकर अधर्म अत्यन्त क्रोधित हो जाता है और सूत्रधार को अधर्म शब्द से सम्बोधित करता है--

आ: पाप कुशील कुशीलव, शृणुरे ।

शौचाचारतप: क्षमाशमदमै: सार्धं विवेकादिभि:
सामन्तैरपि येन धर्मनृपतिनिर्मूलमुन्मूलित: ।
ये दृष्ट्वैव पुनन्ति तेऽपि सहसैवान्धीकृतास्तत्प्रिया
येनैकेन गया सायस्य वशगा: सोऽयं कलिर्निन्द्यते[1] ।।

ब्राह्मण कुमार से भयभीत कलि को देखकर अधर्म उसका उपहास करता है तथा अपना महत्व बताते हुये ब्राह्मण बालक के जन्म के साथ होने वाले हरि नाम के उच्चारण को मात्र एक संयोग मानता है[2] । वह ब्राह्मण कुमार को ईश्वर मानने से भी इन्कार कर देता है ।[3] तत्पश्चात् वह कलि से अपने कामादि छ: मन्त्रियों को उस ब्राह्मण बालक पर विजय प्राप्त करने के लिए नियुक्त करने को कहता है । कलि द्वारा चैतन्य पर काम, और क्रोध की पराजय का वर्णन सुनकर अधर्म चैतन्य के महाभिषेकोत्सव के बाद प्राप्त वस्त्र, सुवर्ण, मणि आदि उपहारों को देखकर कलि से लोभ को नियुक्त करने को कहता है और "मद" के गुणों को बताते हुये उसे समझाता है--

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/10.
2. अयमपि ते भ्रम: । यदिद काकतालीयन्यायेनोपपन्नमन्यथा कल्पयसि ।पृ. -12.
3. अनैकान्तिकमिदम् । प्रकृष्ट एव कश्चिज्जीवो भवतु । चैतन्यचन्द्रोदयम्-पृ. -14.

"तदलमत्र चिन्तया एकस्यावसरे सर्वेषामेवावसरोऽनुमेयः" "एकयोगनिर्दिष्टानाम्" इत्यादि ।[1]

इस प्रकार कलि के मुख से चैतन्य पर कामादि मंत्रियों को प्रभावहीन देखकर अधर्म अत्यन्त विचलित हो जाता है और स्वयं भी चैतन्य की प्रभुता मानने को विवश हो जाता है ।

अद्वैतः -

अद्वैत चैतन्य के परम् मित्र भगवान् से अन्यून शिव के धाम है[2] । यह अत्यन्त उदार प्रवृत्ति वाले हैं । विष्कम्भक की समाप्ति पर चैतन्य जब अपने अवतार का श्रेय अद्वैत को देते हैं तब अद्वैत उन्हें अपनी शक्ति हीनता बताते हुये कहते हैं--

{ अञ्जलि बद्ध्वा }

कोऽहं क्षुद्रतरस्त्वयैव भगवँल्लीलावशेनात्मना ।
लोकानुग्रहसाग्रहेण धरणावात्मायमविष्कृतः ।।[3]

जब चैतन्य मुरारि और मुकुन्द नामक भक्तों पर आध्यात्मिक एवं भक्तिरस से हीन होने के कारण अपनी कृपादृष्टि डालने से मना कर देते हैं तब अद्वैत उन्हें रूप तत्त्व की महिमा बताते हुये मुरारि और मुकुन्द पर प्रसन्न होने के लिये कहते हैं--

दुर्वासनाविषविषादहरे सुषीम-
छायाकरे पुरुकृपामकरन्दवर्षे ।
अम्भोजगंजनकृती चरणातपत्र-
मूर्ध्येतयोः कुरु विधेहि तथा प्रसादम् ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 26.
2. वही. अद्वैताचार्यवर्यो भगवदनवमं शांभव धाम साक्षात् । 1/18
3. वही. - 1/50.
4. वही. - 1/54.

प्रथमांक में ही जब शची देवी चमत्कार तथा आश्चर्य के साथ आनन्दावेशमग्न अपने पुत्र चैतन्य को देखकर उन्हें परात्पर पुरूष समझकर स्तुति करते हुये उनका पैर पकड़ना चाहती हैं और चैतन्य उन्हें अपराधिनी बताते हैं तब अद्वैत चैतन्य को समझाते हुये कहते हैं कि--

भगवन्, मैवम् ।

नापराध्यति जगज्जननीयं क्वापि यज्जठरभूस्त्वमधीशः

हन्त मातरि भवन्ति सुतानां मन्तवः किल सुतेषु न मातुः ।।[1]

चतुर्थाङ्क में चैतन्य के संन्यास-ग्रहण से समस्त मित्रगण अत्यन्त दुःखी है । अद्वैत चैतन्य की माता शची देवी के दुःख का अनुमान करके मुकुन्द को उन्हें आश्वासन देने के लिये भेजते हैं--

"अये मुकुन्द, त्वमनया वार्तया मातरमाश्वासय-- मातः, तं प्रति चिन्ता न कार्या । नित्यानन्दाचार्यरत्नाभ्यां कार्यविशेषार्थं क्वापि देवैन गतमस्ति । "समागतप्रायो यम्" इति वक्तव्यम ।[2]

पंचमाङ्क मे चैतन्य के संन्यास-ग्रहण के पश्चात् जब नित्यानन्द उन्हे वृन्दावन गमन के ब्याज से अद्वैतपुर ले आते हैं, चैतन्य वहाँ कुछ दिन रूककर अद्वैतपुर वासियों को अपना दर्शन देते हैं । उनके दर्शनों के लिये अन्य स्थल से भी लोग आते हैं तब अद्वैत सभी समागत आबाल-वृद्ध-तरूणों के लिये आवास तथा भोजन आदि की व्यवस्था करते हैं ।[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/61.
2. वही. - पृ. - 146.
3. वही. - पृ. - 177.

अद्वैत चैतन्य के परम भक्त है । द्वितीय अंक में जब चैतन्य अद्वैत को अपना षड्भुज स्वरूप का दर्शन कराते हैं । तब अद्वैत के उस स्वरूप के प्रति प्रेम को देखकर श्रीवास का कथन है--

अहो चित्रम् । अद्वैतोऽद्वैतोपरि परिवर्तते ।

तथाहि-

यद्बाह्येन्द्रियवृत्तयोऽस्य गलिता: स्वानन्दसान्द्रो लय: ।
कोऽप्यन्त:करणस्य हन्त नितरां स्पन्देन मन्द वपु: ।।
आत्माप्येष लयं ययावनुभवास्वादे परे वस्तुनि ।
प्रायोऽयं श्वसितीति बोधविषयं प्राप्नोति रोमोद्गमैः ।।[1.]

तृतीयाङ्क में अद्वैत गर्भाङ्क के माध्यम से श्रीकृष्ण का अभिनय करते हैं[2.] । जिससे उनकी भक्ति का ही प्रदर्शन होता है । भगवदावेश में अपने किये गये नृत्य पर अद्वैत चैतन्य का ही प्रभाव मानते हैं । उनके अनुसार भगवान् की लीला को भगवद् कृपा से ही जाना जा सकता है, ज्ञान विशेष द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से नही-

"यत: खलु यावत्तस्मिन्दिवसे भगवदावेशेन यन्मया नर्तितं तज्जनमुखादेव सांप्रतं श्रुत्वा प्रतीयते सन्दिह्यते च । तेनाप्याहतप्रभावोऽयं भगवान्विश्वंभर: ।[3.]

आचार्यरत्न के मुख से चैतन्य के संन्यास ग्रहण को सुनकर अद्वैत अत्यन्त चिन्तित और दु:खी होते हैं । किन्तु आचार्य के मुख से आश्रम के योग्य चैतन्य द्वारा ग्रहण किये गये नाम को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते है और कहते है कि यह नितान्त उचित हुआ । "तत्त्वमसि" इस महावाक्य का अर्थ यहाँ फलवान् हो गया--

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/25.
2. वही. - पृ. - 80.
3. वही. - पृ. - 128.

कृष्णस्वरूपं चैतन्यं कृष्णचैतन्यसंज्ञितः ।
अतएव महावाक्यस्यार्थो हि फलवानिह ।।[1]

पंचमाङ्क में जब नित्यानन्द चैतन्य को वृन्दावन जाने के ब्याज से अद्वैतपुर ले आते है और चैतन्य मार्ग में पड़ने वाली गगा नदी को यमुना नदी समझकर उसकी स्तुति करते है एवं अद्वैतपुर को भी वृन्दावन ही समझते हैं तथा वहाँ अद्वैतादि को देखकर उनसे वृन्दावन आने का कारण पूछते हैं, तब अद्वैत रोते हुये उन्हें सत्यता से अवगत कराते हैं और अपने को भला-बुरा कहते हैं तब चैतन्य स्वयं उन्हें भगवद्भक्त तथा साक्षात् वृन्दावन ही कहते हैं--

"भो अद्वैत, त्वमेव वृन्दावनं त्वय्यनवरतं भगवत्पादकमलसंयोगात् तत्कथय कुत्रागतोऽस्मि ।"[2]

ग्रन्थ के अन्त में जब चैतन्य अद्वैत से पूछते है कि हम तुम्हारा और क्या भला करें? तब अद्वैत कहते है कि आपने कलि का नाश कर भक्ति की स्थापना कर दी । मेरी यही इच्छा है कि मैं इन अनुचरों के ही साथ लोकान्तर में भी वास करूँ ।-

धर्मार्थकामेषु परैव कुत्सालिप्सा न मोक्षस्य च कर्हिचिन्नः ।
एभिः समस्तैस्तव देव लोकैर्लोकान्तरेऽप्यस्तुसहैव वासः ।।[3]

उपर्युक्त विशेषताओं से अद्वैत की उदारता एवं कृष्ण भक्ति के स्फुट दर्शन होते हैं ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/41.
2. वही, - पृ. - 166.
3. वही. - 10/71.

विराग-

विराग कलि से व्याप्त युग में अपने मित्र सत्य, शम, दम, शान्ति आदि को न पाकर उनकी समाप्ति की आशङ्का से चिन्तित और कलि द्वारा फैलायी गयी अव्यवस्था से अत्यन्त दुःखी है । जहाँ पर ब्राह्मण नाममात्र के रह गये हैं, वैश्य बौद्ध से हो रहे हैं, शूद्रगण अपने को पण्डित समझकर उपदेश देने में तत्पर हैं, क्षत्रिय की संज्ञा ज्ञान के लिये हैं[1]। तत्वज्ञानी भी कपिल, कणाद, पातंजल तथा जैमिनी मत के विशेषज्ञ है भगवद्तत्त्व के ज्ञाता नही[2]। उसके अनुसार ध्यान, धारणा, तपादि हरिभक्ति के बिना पेट भरने के उपाय मात्र है-

विष्णोर्भक्तिं निरूपधिमृते धारणाध्याननिष्ठा ।
शास्त्राभ्यासश्रमजपतपः कर्मणा कौशलानि ।।
शैलूषाणामिव निपुणताधिक्यशिक्षाविशेषा
नानाकारा जठरपिठरावर्तपूर्तिप्रकाराः ।।[3]

इस प्रकार कलि की इस दुरवस्था से पीड़ित होकर विराग नवद्वीप जाता है जहाँ उसे भक्तिदेवी मिलती है । भक्तिदेवी से उसे पता चलता है कि कलि के नाश हेतु भगवान् का अवतार हुआ है । जिसे सुनकर विराग अत्यन्त उत्कण्ठित होकर भगवान् के बारे में भक्तिदेवी से पूछता है--

भवत्यो वा किमीहन्ते स वा देवः किमीहते ।
निराश्रयस्य मम वा किमसौ भविताश्रयः ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/2.
2. वही. - पृ. - 45.
3. वही. - 2/9.
4. वही. - 2/14.

भक्तिदेवी के मुख से व भगवान् चैतन्य के गुणों एवं उनके प्रति नवद्वीपवासियों की भक्ति को सुनकर, जहाँ प्रत्येक घर में भगवद् मूर्त्ति की पूजा अर्चना नित्प्रति की जाती है, अत्यन्त आश्चर्य चकित होता है और भक्तिदेवी से पूछता है कि यह प्रभु के आदेश का परिणाम है या स्वेच्छा का--

"किमयं स्वयमेव तथा ज्ञापयति । किं वा ते त एव तदाशयमभिमत्य मत्यनुसारेण सारेण व्यवहरन्ति[1] । स किं सर्वदा भक्ताचरितमेव प्रकटयति । किं वा कदाचिदैश्वर्यमपि ।"[2]

तत्पश्चात् चैतन्य के सर्वावतारों के बारे में सुनकर विराग विस्मित होता है और भक्तिदेवी से स्वयं भी चैतन्य के आश्रय में जाने को कहता है--

"भगवति, तृतीयप्रश्नस्योत्तरमवशिष्यते शिष्यतेयं भगवत्या मम । तदनुशाधि मां स किं मदाश्रयो भवितार्णवता वा किं माम् ।"[3]

भक्तिदेवी-

भक्तिदेवी विराग की बहन है । यह अन्तःकरण को प्रसन्न तथा इन्द्रियों को शुद्ध करती हुयी मोक्ष को भी तुच्छ कर देती है और आनन्द सागर में निमज्जित करके जीवों को तत्काल कृतार्थ कर देती है[4] । कलि द्वारा अव्यवस्थित समाज को देखकर मानसिक उद्वेग से खिन्न विराग को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और विराग को अपनी सुरक्षा करने वाले भगवान् चैतन्य के बारे में बताती है कि इस कलिकाल में कुछ भी धर्मान्तर नहीं है, न कुछ स्थिर है । पापापहारी शुद्धभक्तियोग से कलिमल

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 53.
2. वही. - पृ. - 54.
3. वही. - पृ. - 65.
4. वही. - 2/13.

को दूर करने वाले, आचण्डाल अलङ्घनीय वासना के विनाश द्वारा साङ्ग भक्ति को साथ लेकर भगवान् ने भक्त के रूप में अवतार लिया है ।

"विराग न जानासि । श्रृणु । अस्माकमेव कृते कोऽपि महाकारूणिको भगवान्भवबन्धच्छेदकचरितो गौरचन्द्रोऽवतीर्णः ।"[1]

भक्तिदेवी भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुये कहती है कि लोग उनकी सर्वत्र भक्ति करते हैं, उन्हें देखते ही गृहग्रस्त से हो जाते हैं, उनका अभिप्राय स्वयं समझकर तदनुकूल आचरण करने लगते हैं[2] । भगवान् स्वयं भक्त का सा आचरण करते है[3] । कभी अलौकिक वृत्ति भी प्रकट करते है[4] । उनके यहाँ पात्रतथा अपात्र की कोई व्यवस्था नहीं होती--

न जातिशीलाश्रमधर्मविघाकुलाद्यपेक्षी हि हरेः प्रसादः ।
यादृच्छिकोऽसौ बत नास्य पात्रापात्र व्यवस्थाप्रतिपत्तिरास्ते ।।[5]

भक्तिदेवी विराग को चैतन्य के सर्वावतारों के बारे में भी बताती है । वह उनके षड्भुज स्वरूप से अत्यन्त प्रभावित होती है, जिसे चैतन्य ने दयालुतावश दिखाया था--

भुजाभ्यामुभाभ्यां दधच्चारूवंशी चतुर्भिर्गदाशङ्खचक्राम्बुजानि ।
किरीटं च हारांश्च केयूरके च स्रजं वैजयन्तीं मणिं कौस्तुभं च ।।[6]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 51.
2. वही. - पृ. - 53.
3. वही. - पृ. - 54.
4. वही. - पृ. - 55
5. वही. - 2/19.
6. वही. - 2/20.

वह चैतन्य के प्रेमानन्द की कथा भी सुनाती है और विराग को चैतन्य के आश्रय में ले जाती है ।

प्रेमभक्ति-

प्रस्तुत नाटक में प्रेमभक्ति भी एक अमूर्त पात्र है । यह कलियुग के आदमियों से पराजित प्राणों को बचाती हुयी मैत्री को अपने आश्रय में ले लेती हैं और उसे उसकी पूरी वंशावलि बताती है । तत्पश्चात् प्रेमभक्ति अपने आश्रयदाता भगवान् विश्वंभर के द्वारा समस्त अवतारों की लीलायें सम्पन्न कर लेने पर राधानुकरण की लीला का वर्णन करती है । जिसमे अद्वैत रूद्रावतार होने के कारण कृष्ण का अभिनय कर रहे हैं, स्वयं भगवान् राधा का, हरिदास, सूत्रधार का, मुकुन्द परिपार्श्विक का तथा नित्यानन्द योगमाया नामकी वृद्धा स्त्री की भूमिका करेंगें ।[1] प्रेमभक्ति मैत्री को लेकर राधानुकरण लीला को देखने जाती है । नान्दी पाठ के अनन्तर वह मैत्री को नारद केविषय में बताती है--

वत्से, प्रणमैनम् । महाभागवतोत्तमोऽयं मुनिवरः । यस्य खल्वियं गाथा-

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ।।[2]

नारद जी को वृन्दावन के प्रति आसक्त देखकर प्रेमभक्ति का कथन है-

"(निरूप्य) अहो महाभागवतस्य नैसर्गिकी वृन्दावनरतिः ।"[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 80-81.
2. वही. - 3/29.
3. वही. - पृ. - 94.

अद्वैत के कृष्ण रूप को देखकर प्रेमभक्ति अत्यन्त हर्षित होती है और अद्वैत के स्वरूप पर शङ्कित होती हुयी स्वयं भगवान् की उस रूप में कल्पना करती है । उसके अनुसार यथार्थ वस्तु ही अधिक चमत्कार प्रकट करती है, यथार्थ का आकार सुख देता है और सन्देह भी पैदा करता है--

अकृष्णः कृष्णत्वं व्रजितुमसमर्थो हि भवति ।
स्वयं कृष्णो नानाकृतिकृतिसमर्थोऽपि भवति ।।
गृहीतुं योग्यः स्यादवयवकलापं ह्यवयवी ।
कथंकारं धत्तामवयवविशेषोऽवयविताम् ।।[1]

तदयमद्वैत एव न भवति । नापि वेशरचनाकौशलम् । किंतु स्वयं कृष्ण एवावतीर्णः ।[2]

वृन्दावन में पुष्प चयन करती हुयी राधा को देखकर भी प्रेमभक्ति आश्चर्य में पड़ जाती है और स्त्री के रूप में चैतन्य की शक्ति को महान् मानती है--

मोहिन्येष बभूव यः स्वकलया देवद्विषो मोहय ।
न्नात्मारामपीश्वरेश्वरमपि श्रीशंकरं लोभयन् ।।
तस्याश्चर्यमिदं न किञ्चिदपि यत्कृष्णावतारोऽपि स ।
श्रीराधाकृतिमग्रहीत्स्ववपुषा देवः स विश्वम्भरः ।।[3]

इस प्रकार प्रेमभक्ति भगवान् चैतन्य की अनन्य भक्त और उनके समस्त अवतारों पर भक्ति रखने वाली है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/37.
2. वही. - पृ. - 98.
3. वही. - 3/42.

गगा-

गंगा, गंगा नदी की प्रतीक-पात्र है । गंगा भी चैतन्य की अनन्य भक्त है और वह चैतन्य के संन्यास-ग्रहण से अत्यन्त दुःखी है । वह अपनी कीर्त्ति की प्रसिद्धि का कारण चैतन्य के चरण-प्रक्षालन को ही मानती है[1]। जो नित्य-प्रति उनके जल में अवगाहन करते थे । अब उनके चले जाने से वह अत्यन्त सन्तप्त है तथा रत्नाकर को उनके गमन वृत्तान्त से अवगत कराती है । चैतन्य भगवान् माता तथा स्नेही बन्धुओं की प्रसन्नता के लिये तीन दिन अद्वैतपुर में रहकर मथुरागमन करते है । नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर, आदि उनके साथ जाते है । यह सुनकर रत्नाकर सशङ्कित होकर कहता है कि गौड़ देश का मार्ग अवरूद्ध होने के कारण किस प्रकार भगवान् इन चार व्यक्तियों के साथ जा पायेंगे? इसका प्रत्युत्तर गंगा चैतन्य की महिमा का वर्णन करते हुये देती है--

योऽन्तर्यामी भवति जगतां योऽयमव्याजबन्धु ।
यस्य द्वेष्यो न जगति जनः कोऽपि के तं दिषन्तु ।।
द्वैराज्येऽस्मिन्पटुविकटयोः सेनयोरेव मध्या ।
न्निष्प्रत्यूहं कलय चलितो बन्धुभिः पंचषैः सः[2] ।।

गंगा चैतन्य के प्रभाव से भी प्रभावित है । उसके अनुसार जब चैतन्य ने गजपति के महासामन्तगणों के कारण अत्यन्त सघन राजमार्ग को छोड़कर वनमार्ग को अपनाया तब वहाँ मार्ग में मिलने वाले अत्यन्त भयंकर व्याघ्र, हाथी तथा महिष भगवान् के माधुर्यलव को प्राप्त कर जहाँ के तहाँ ठिठके रह गये[3]। वह उनकी भक्ति की भी सराहना करती है जो मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के मंदिरों और

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 180.
2. वही. - 6/5.
3. वही. - पृ. - 187.

मूर्त्तियों की स्तुतियाँ करते हुये उन्हें प्रणाम करते थे[1]। इस प्रकार चैतन्य के विभिन्न गुणों से प्रभावित गंगा अपने जीवन का परम लक्ष्य चैतन्य भक्ति को ही मानती है।

सामान्य पात्र-

मूर्त और अमूर्त पात्रों के अतिरिक्त प्रस्तुत नाटक में कुछ ऐसे भी साधारण पात्र हैं जो कथानक की नाटकीय योजना में सहयोग देते पाये जाते है । इनका कथा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध न होते हुये भी, नाटकीय इतिवृत्त को अग्रसर करने, कथा-प्रवाह को गति देने, और कथासूत्र को संयोजित करने के कारण नाटक के कथानक में महत्वपूर्ण स्थान है ।

सूत्रधार-

नाटक में हमारे समक्ष सबसे पहले सूत्रधार आता है । नान्दी के अनन्तर यह रंगमंच पर अवतीर्ण होकर परिपार्श्विक के साथ राजाज्ञा, राज्य व्यवस्था, नाटककार का नाम, और नाटक के उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में वार्त्तालाप करता है । वह परि-पार्श्विक को बताता है कि कवि परमानन्ददास की कृति "चैतन्यचन्द्रोदयं" नामक नाटक का अभिनय अपनें राजा प्रतापरूद्र की आज्ञा से किया जा रहा है-

"अहं श्रीनाथेनानुगृहीतेन तस्यैव भगवतोऽवतो निजकरूणां श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितं परमानन्ददासकविना विनाशितहृत्कष्मा-यतिमिरं "श्रीचैतन्यचन्द्रोदयं" नाम नाटकमभिनीय समीहितहितमस्य नृपतेः करिष्यामि।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 189-192.
2. वही. - पृ. - 4.

सूत्रधार नाटक के नायक चैतन्य की विशेषताओं को बताता है[1] और परिपार्श्विक को उनके अवतार-ग्रहण का प्रयोजन बताता है--

तस्य साधनं नाम नामसंकीर्त्तनप्रधानं विविधभक्तियोगमाविर्भावयितुं भगवांश्चैतन्यरूपी चैतन्यरूपीभवन्ना विरासीत् ।[2]

उसके अनुसार चैतन्य का मत जिसमें मुक्ति शब्द से पार्षद का स्वरूप लिया जाता है, अन्य मतों को परास्त कर देता है । इस प्रकार नायक चैतन्य के मत की महिमा का वर्णन करते हुये सूत्रधार सामाजिकों के हाथ में कथा का सूत्र देकर, स्वयं प्रस्थान कर जाता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 5.
2. वही. - पृ. - 6.

पचम-अध्याय

पंचम-अध्याय

रसाभिव्यक्ति

विगत अध्यायों में रूपकों के भेदक तत्त्व वस्तु तथा नेता के सविस्तार विवेचन के बाद अब क्रम प्राप्त रस का विवेचन किया जा रहा है । रूपक का समग्र संविधान रसोन्मेष की ओर अग्रसर होता है । इसीलिये नाट्य की रचना को कठिन कहा गया है[1.] । रस के बिना आनन्द की प्राप्ति असम्भव है, जो कि काव्य या नाट्य का मुख्य फल है, इसलिये नाट्य ही रस है[2.] । रससिद्ध कवियों की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है-"रससिद्धाः कवीश्वराः" जिनके काव्य के पढ़ने से मर्त्यलोकवासी मनुष्य भी काव्यरस रूपी सुधा का पान करने वाले बन जाते हैं[3.] । रसादि को मुख्य रूप से काव्य का विषय बनाकर उसके अनुरूप काव्य रचना करना महाकवि का मुख्य कार्य है ।[4.] रसादि के आश्रय से परिमित काव्य मार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है[5.] ।अतएव अभिनेयार्थ काव्यों में रसयोजना पर पूर्ण बल दिया गया है[6.] । रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है । विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में रस शब्द का प्रयोग मधु,[7.] दुग्ध,[8.] सोमरस[9.] और जल[10] के अर्थों में हुआ है । उपनिषद् काल में

---

1. अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसंचरः ।
   दुस्संचरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कुलः ।। हिन्दी नाट्य दर्पण- 1/3.
2. §क§ यतश्च तं विनाऽर्थः प्रयोजनं प्रीति पुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते ।
   §अभिनव भारती-अभिनव गुप्त§
   §ख§ नाट्य शब्दो रसे मुख्यो, रसाभिव्यक्तिकारणम् ।§नाट्य दर्पण-भूमिका-1§
3. स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः । हिन्दी नाट्य दर्पण- 1/5.
4. रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः । ध्वo 3/32 पृ. -244.
5. युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः ।
   मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ।। ध्वः 4/3 पृ. -340.

रस का अर्थ द्रव्य की पोषक शक्ति, द्रव्य से प्राप्त उर्जा और आह्लाद आदि सूक्ष्म तत्त्वों के सन्दर्भ में हुआ है[1]। वृहदारण्यकोपनिषद् में रस को सारभूत तत्त्व कहा गया है[2]। शतपथ ब्राह्मण में रस को मधु का पर्याय कहा गया है[3]। मधु माधुर्य का पोषक है माधुर्य आनन्द का। रस शब्द का साहित्य रस के अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में हुआ है। उन्होंने नाट्य (नाटक) के लक्षण में अन्य तत्त्वों के साथ रसत्व का भी समावेश किया है[4]। उनके अनुसार नाट्य का जीवितभूत परमतत्त्व रस ही है, क्योंकि उसी को लक्ष्य करके नाट्य के विभावादिक अर्थ प्रवृत्त होते हैं[5]। यह रस केवल नाट्य का सर्वस्व है, अपितु काव्य का भी जीवित है[6]। क्यों कि काव्य तथा नाट्य में कोईमौलिक अन्तर नहीं है। अतः नाट्य अथवा काव्य पर कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि "रसभावना" ही एकमात्र नाट्य अथवा काव्य का साध्य है और नाट्य-काव्य का अभिव्यञ्जन व्यापार ही इस रस भावना का साधन है। काव्य-नाट्य रस का व्यजक है[7]। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की भी यही रसदृष्टि है-- लोक जीवन में रत्यादि चित्तवृत्तियों के कारणभूत पदार्थ काव्य-नाट्य मे प्रतिफलित होने पर सहृदय की रत्यादि वासनाओ को अभिव्यक्त करने लगते हैं।

---

1. ओषधीभ्योऽन्नम् अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।
   तैत्तरीय उपनिषद, द्वि. वल्ली अनुवाक् 1. पृ.306.
2. प्राणो वा अङ्गानां रसः। वृ.उ.= वृहदारण्यक उपनिषद
3. रसा वै मधुः। श.ब्रा. 7/5/12.
4. बहुकृत रसमार्गम्-----------। नाट्य शास्त्र- 16/118.
   जग्राह-------------------रसानाथर्वणादपि ।। नाट्य शास्त्र- 1/17.
5. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते- नाट्य शास्त्र।
6. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। हिन्दी व्यक्ति विवेक, 1/26 पृ.- 111.
7. तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते।
   अभिनव गुप्त-ध्वन्यालोकलोचन. पृ.- 189.

इस प्रकार सहृदयों के हृदय में स्थायी भावो की अभिव्यक्ति ही काव्य नाट्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की योजना का परम निष्कर्ष है और रस काव्य-नाट्य की अभिव्यंजना की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदयों के हृदय का रत्यादि रूप स्थायी भाव ही है ।[1]

रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार भरतमुनि का यह सूत्र है-"तत्रविभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" । "इसका आशय यह है कि विभाव, अनुभव तथा व्यभिचारि भाव के संयोग से पुष्ट रत्यादि स्थायिभाव आस्वादन योग्य होकर रस कहलाते है[2] । इस प्रकार रस के प्रमुख चार तत्त्व हैं- स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारिभाव । मन में स्थायी रूप से रहने वाला वासना या संस्कार का नाम ही स्थायीभाव है । साहित्यिक आचार्यो ने इन स्थायिभावों का परिगणन इस प्रकार किया है-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः । काव्य प्रकाश-4/30

कहीं निर्वेद को भी मिलाकर नौ स्थायिभाव माने गये हैं[3] । यह स्थायिभाव अपने से प्रतिकूल अनुकूल किसी प्रकार के भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होते और लवणाकर के समान अन्य सभी भावों को आत्मसात् कर लेते हैं[4] । इन स्थायिभावों को

---

1. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
   विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।काव्य प्रकाश-4/27-2
   पृ. - 119.
2. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
   रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ।। साहित्य दर्पण, 3/1, पृ. -
3. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । काव्य प्रकाश- 4/35.
4. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
   आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायि लवणाकरः ।। दशरूपक-4/34, पृ. -301.

उद्‌बुद्ध करने वाली सामग्री मुख्यत: दो प्रकार की है- आलम्बन और उद्दीपन विभाव।[1] जिसके आलम्बन से रत्यादि स्थायीभाव उद्‌बुद्ध होते हैं वे ललनादि आलम्बन विभाव कहलाते हैं[2]। तथा उद्यान, प्राकृतिक सौन्दर्यादि उन रत्यादि भावों के उद्दीपक होने से उद्दीपन विभाव कहलाते हैं[3]। आलङ्कारिकों ने स्थायिभावों को इस द्विविध उद्‌बोधक सामग्री को "विभाव" नाम से निर्दिष्ट किया है[4]। जिस पात्र के हृदय मे रत्यादि स्थायिभाव उद्‌बुद्ध होता है वह पात्र उस भाव का "आश्रय" कहा जाता है । जब यह भाव उद्‌बुद्ध हो जाते है तो इनका प्रभाव बाहर दृष्टिगोचर होने लगता है । मनोगत उद्‌बुद्ध वासना के अनुसार ही रत्यादि भावों को प्रकाशित करने वाले आङ्गिक, वाचिक, आहार्यादि व्यापार अनुभाव हैं[5]। विभाव तो रत्यादि के उद्‌बोध के कारण हैं और "अनुभाव" उनके कार्य हैं । रति आदि भावों को सूचित करने वाला शरीर आदि के परिवर्तन को अनुभाव कहते हैं[6]। स्थायिभावों में उन्मग्न, निमग्न होने वाले अन्य सहभावों को सचारी या व्यभिचारी भाव कहते है[7]। ये संचारी भाव स्थायी

---

1. आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ । साहित्य दर्पण-पृ. - 137.
2. (क) आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।। साहित्य दर्पण- 3/29.
   (ख) आदि शब्दान्नायिका प्रतिनायिकादय: । अथ यस्य रसस्य यो विभाव:स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते । साहित्य दर्पण- वृत्ति भाग- पृ. - 137.
3. (क) उद्दीपन विभावास्तेरसमुद्दीपयन्ति ये ।। साहित्य दर्पण- 3/131, पृ. 199
   (ख) आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा । साहित्य दर्पण- पृ. - 199.
4. रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावा: काव्यनाट्ययो: । साहित्य दर्पण- पृ. 135.
5. उद्‌बुद्धं कारणै: स्वै: स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
   लोके य: कार्यरूप: सोऽनुभाव: काव्यनाट्ययो: । साहित्य दर्पण- 3/132.
6. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक: । दशरूपक- 4/3 पृ. - 261.
7. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण: ।
   स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना: कल्लोला इव वारिधौ ।। दशरूपक- 4/7.

भाव के परिपोष में सहकारी होते हैं । इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है ।[1]

प्रबन्धों में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध होने पर भी किसी एक रस को अङ्गी या प्रधान रस के रूप में स्वीकार करने का विधान किया गया है[2]। रसों की अनेकता का प्रतिपादन और उनकी परस्पराश्रियता का विचार करते हुये भी सभी लेखक इस विषय में प्रायः एकमत हैं कि रसों की भिन्नता केवल औपचारिक या औपाधिक है । रस को मूलतः आस्वाद रूप मानकर केवल अखण्ड एकमात्र अनुभूति मानना यौक्तिक होगा । भरत मुनि ने भी रस शब्द का प्रयोग "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"[3] पंक्ति में एकवचन में किया है । इसी प्रसंग के सन्दर्भ में आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि महाकाव्यादि अथवा नाटकादि प्रबन्धों में बिखरे रूप में अंगाङ्गिभाव से अनेक रसों का निबन्धन किया जाता है, इस प्रकार की प्रसिद्धि होने पर भी जो कवि प्रबन्ध के सौन्दर्यातिशय को चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक प्रतिपादनाभिमत रस को ही प्रधान रूप से समाविष्ट करना चाहिये । यही अधिक उचित मार्ग है[4]। यहाँ अन्य अनेक रसों के परिपोष को प्राप्त होने पर उनमें से किसी एक का अंगी रस होना विरोधी क्यों नहीं होगा ? ऐसी आशंका होने पर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये ध्वनिकार कहते हैं कि अन्य रसों के साथ प्रस्तुत रस का जो समावेश है वह प्रबन्धव्यापी रूप से प्रतीत होने वाले प्रस्तुत प्रधान रस की

---

1. निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता ।
 स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।।
 व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कविहित्था ।
 व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ।। दशरूपक- 4/8.

2. प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
 एको रसोऽङ्गी कर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता । ध्व. 3/21.

3. नाट्य शास्त्र- 6/ पृ. - 228.

4. प्रसन्धेक महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतया अङ्गाङ्गि भावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्ते इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद् विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः । ध्व. 3/21की वृत्ति

अङ्गिता (प्रधान्य) का विघातक नहीं होता है[1]। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए ध्वनिकार का कथन है कि प्रबन्धों में प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध में आद्यन्त वर्तमान, उस रस का बीच-बीच में आये हुये अन्य रसों के साथ जो समावेश है वह प्रधान्य का विघातक नहीं होता है[2]। जैसे प्रबन्ध में व्याप्त प्रासङ्गिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान वस्तु से परिपुष्ट एक प्रधान कार्य (विषय आख्यान वस्तु) रखा जाता है और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं इसी प्रकार रस के विधान में एक प्रबन्ध व्यापी अङ्गी रस के साथ अङ्गभूत अवान्तर रसों के समावेश में भी विरोध नहीं है[3]। इस प्रकार अङ्गभूत रसों के साथ प्रधानभूत एक रस का अङ्गित्वेन सन्निवेश करने में कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी और पारखी सहृदयों को इस प्रकार के विषयों में और अधिक आनन्द आता है[4]। प्रबन्धकाव्य के रस विधान में अङ्गीरस की वही स्थिति होती है जो रस परिपाक में स्थायीभाव की। जिस प्रकार रस के परिपाक में संचारी भाव उन्मग्न और निमग्न होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में अन्य अङ्गभूत रस अङ्गी रस को समृद्ध करते हैं। चैतन्यचन्द्रोदय

---

1. रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः।। ध्वन्यालोक- 3/22

2. प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति। ध्वन्यालोक- 3/22 वृत्ति.

3. कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधी नैव विद्यते।। ध्वन्यालोक- 3/23.

4. तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधी न कश्चित्।
प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते। ध्वन्यालोक- 3/23 वृत्ति भाग।

में भक्तिरस अङ्गी रस है [1]। इसलिये सर्वप्रथम उसी का विवेचन उचित है ।

भक्तिरस-

मध्यकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह तथ्य दृष्टिपथ में आता है कि मध्यकालीन आचार्य काव्य एवं नाट्य में भक्तिरस की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन पूर्ववर्त्ती शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है । आचार्य अभिनव गुप्त [2] तो इसका अन्तर्भाव शान्त रस मे करते हैं । जबकि मम्मट [3] विश्वनाथ, [4] हेमचन्द्र, [5] पण्डितराज जगन्नाथ, [6] धनजय [7] आदि आचार्यों ने भक्तिरस का अन्तर्भाव भाव में माना है । नाट्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने तो रसों की संख्या का निर्वचन करते हुये नाटकादि में श्रृंगार, हास्य,

---

1. (I) नाटक चन्द्रिका के व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने ग्रंथ की भूमिका में चैतन्यचन्द्रोदय में भक्तिरस को स्वीकार किया है । नाट्य चन्द्रिका पृ. 33- भूमिका.

   (II) चैतन्यचन्द्रोदय में कवि कर्णपूर ने स्वयं कहा है-
   उज्जवलाद्भुतशमाश्च हसश्च प्रेम वत्सल इतीह रसाः षट् ।
   उत्तमा इति तदाश्रयभाजो भक्तयश्च षड्मूरतियोग्याः ।। 3/7.

   (III) चैतन्य चन्द्रोदय में आचार्य रामचन्द्र मिश्र ने भी भक्तिरस स्वीकारा है-
   चैतन्य चन्द्रोदयम्-भूमिका, पृ. -15.

   (IV) डॉ. कृष्णलता सिंह कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्य एक अध्ययन, पृ. - 71.

2. अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति-श्रद्धे स्मृतिमति धृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽन्यै वाङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम् । अभिनव गुप्त, पृ. - 636.

3. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः ।
   भाव प्रोक्तः----------------------।। काव्य प्रकाश- 4/48.

4. साहित्यदर्पणकार ने वत्सल रस को मुनीन्द्र सम्मत कहकर स्वीकार किया है किन्तु भक्तिरस को नहीं माना । "अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः" साहित्यदर्पण- 3/251.

5. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः । तुल्ययोःया परस्पर रतिः स स्नेहः । अनुत्तमस्य उत्तमे रतिः प्रसक्तिःसैव भक्तिपद वाच्या । उत्तमस्य अनुत्तमें रतिः वात्सल्यम् एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम् । काव्यानुशासन

6. रस गंगाधर- पृ. -43.

7. प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
   हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्नकीर्तिताः ।। दशरूपक- 4/83.

करूण, रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स एवंम् अद्भुत नामक आठ ही रसों की चर्चा की है[1]। कुछ संस्करणों में "शान्त" को भी लेकर रसों की संख्या नौ प्रतिपादित की गयी है । परन्तु नाट्य में आठ अथवा नौ रसों के ही मान्य होने पर भी भक्तिरस की सत्ता को कोई क्षति नहीं पहुँचती । क्योंकि आचार्य भरत आदि पूर्ववर्त्ती आचार्यों का भक्तिरस पर प्रकाश न डालना इस बात को भी द्योतक हो सकता है कि उनके समय तक भक्तिरस से युक्त लक्ष्य-ग्रन्थ का अभाव था{जिसके आधार पर लक्षण ग्रन्थों में उसकी सत्ता का निरूपण किया जाता} भक्तिरस पर विचार करना तो तब अपरिहार्य हो जाता है जब भक्तिरस से युक्त लक्ष्य ग्रन्थ का प्रवेश होता है । यदि आचार्य भरत के समय तक यह ग्रन्थ होते तो वे भी भक्तिरस की चर्चा अवश्य करते । जैसा कि शान्त रस के प्रकरण में हुआ था । मम्मट आदि आचार्य नाट्य में तो शान्त रस का निषेध करते रहे किन्तु काव्य में उसका निषेध नहीं कर सके क्योंकि उसका लक्ष्य ग्रन्थ महाभारत उनके समक्ष विद्यमान था । नाट्य का लक्ष्य ग्रन्थ विद्यमान नहीं था, इसलिये मम्मट आदि आचार्यों ने नाट्य में शान्त रस का निषेध किया । किन्तु जब परवर्ती आचार्यों के समक्ष शान्त रस से युक्त लक्ष्य ग्रन्थ "नागानन्दम्" आया और उन्होंने उसमें शान्त रस को स्वीकार किया तब भी कुछ लोगों ने उसका विरोध किया । किन्तु लक्ष्य ग्रन्थ की उपस्थिति के कारण शान्त रस की सत्ता अन्ततः स्वीकार करनी पड़ी । इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर परवर्ती आचार्यों ने शान्त रस को जोड़कर उसकी संख्या नौ की थी । अतः आचार्य भरत के द्वारा भक्तिरस की चर्चा न किये जाने पर भी आगे चलकर आवश्यकता पड़ने पर आचार्यों द्वारा उसे रस के रूप में स्थान देना अनुचित नहीं है । भरतमुनि ने तो नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक जैसे चार ही अलंकारों की चर्चा की थी, परन्तु कुवलयानन्द में आते-आते वह संख्या 120 तक पहुँच गयी । इस प्रकार भक्तिरस का निषेध करना उचित नहीं है ।

---

1. शृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ।। नाट्य शास्त्र- 6/15.

अब यहाँ पर पुनः प्रश्न यह उठता है कि जब पूर्ववर्ती आचार्यों ने भक्ति को भाव के अन्तर्गत स्वीकार कर ही लिया था तो परवर्ती आचार्यों को उसे भाव से अलग रस मानने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके प्रत्युत्तर में भक्ति को भाव कोटि में मानने वाले व्यक्तियों के लिये वैष्णवाचार्यों का कथन है कि-प्राच्य आलंकारिकों का देवादि से तात्पर्य सामान्य देवता से है । देवादि से सर्वशक्तिमान् परम् कृष्ण का बोध नहीं होता है । सामान्य देवता के प्रसंग में भक्ति भाव हो सकती है, किन्तु कृष्ण के प्रसंग में वह भाव कदापि नहीं हो सकती है[1] । कृष्ण की देवत्व सर्वव्यापकत्वादि रूप से जो चित्त की रंजकता रति है, वह भाव संज्ञा को धारण करती है । किन्तु यह भावरूप स्थायी सम्प्रयोग विषयारति के परिणाम रूप जो भाव है, उससे सर्वथा भिन्न है[2] । उनके अनुसार यही भाव स्थायित्व को प्राप्त कर विभावानुभावादि सामग्री से पुष्ट होकर भक्तिरस बन जाता है[3] । जिस प्रकार निर्वेद भाव भी है और शान्त रस का स्थायी भाव भी, उसी प्रकार देवादिविषयक रति भाव होकर भी स्थायित्व को प्राप्त कर भक्तिरस मे आस्वादित होती है । भक्ति अपने विभावादि के साथ अपना एक अलौकिक स्वभाव रखती है[4] । भक्तिरस की अन्य रसों से श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुये इन आचार्यों का मत है कि "यद्यपि कान्ता आदि विषयक रति को ही विद्वानों ने मुख्य रस स्वीकार किया है तथापि कान्तादि विषयक रति से शोकादि स्थायी भावों में रस पुष्ट नहीं होता है । अतएव भक्ति का रसत्व स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये । आपत्ति करने वाले

---

1. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ।
   भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः ।।
   देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात् ।
   तद्योज्यम् परमानन्दरूपे न परमात्मनि ।। मधुसूदन सरस्वती, भक्तिरसायन;- 2/75. 76.
2. कवि कर्णपूर, अलंकार कौस्तुभः, पृ. - 127.
3. सैव देवादिविषयारतिर्भाव इति पारिभाषिकोऽपि भावः स्थायी सन् तत्तद्विभावादिसामग्रीसमवेतो भूत्वा भक्तिरस इति ।। वही. पृ. -147.
4. "यत् तु प्राकृतरसिकैः रससामग्री विरहाद् भक्तौ रसत्वं, तत् खलु प्राकृतदेवादिविषयम् एव सम्भवेत्----तथा तत्र करणादयः स्वतः एवालौकिकाद्भुतरूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयाश्च । प्रीति संदर्भ-जीवगोस्वामी पृ. - 673-74.

विद्वानों के प्रति उनका प्रबल तर्क है कि जब सुख के विरोधी क्रोध, शोक, भयादि का रसत्व अनुभव के अनुरोध को प्रमाण बनाकर स्वीकार कर लिया जाता है, तब भक्ति का, जिसमें रसत्व की अनुभूति स्फुटतर है, उसका रसत्व अस्वीकार करने का अकस्मात् जडतावश व्यर्थ आलाप क्यों किया जा रहा है? अर्थात् भक्ति तो अन्य रसों की भाँति स्वानुभाव सिद्ध है तथा रसपरिपूर्ण है ।[1.]

भक्ति को इस रूप मे प्रतिपादित करने का श्रेय श्रीरूपगोस्वामी (वैष्णवाचार्य) को है । जिन्होंने रसशास्त्र की प्राचीन दिशा के प्रति समुचित आस्था का निर्वाह करते हुये मौलिकता भी पर्याप्त मात्रा में दिखलायी है[2.] । रसत्व का चरम लक्ष्य है- आनन्द । यह आनन्द दो प्रकार का माना जाता है-- परमात्मा गत तथा जीवात्मा गत । भरतमुनि प्रभृति रस शास्त्राचार्यों का लक्ष्य उसी जीवगत आनन्दांश का उद्बोधन है । जबकि भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने जीवगत अंशमात्र आनन्द को ही साध्य नहीं बनाया अपितु उनका लक्ष्य था आनन्द-राशि भगवद्गत आनन्द का आस्वादन कराना । पुष्कलरसतापत्ति तो तभी होती है जब परमानन्दस्वरूप भगवान् स्वयं ही मनोगत हो जाते है[3.] । लक्ष्यभेद होने से निष्पत्ति तथा आस्वाद में भी भेद होना स्वाभाविकही है । इस निष्पत्ति के विषय में जितनी भी पुरानी व्याख्यायें पायी जाती है वे भक्तिरस विषयक निष्पत्ति की व्याख्या से मेल नहीं खाती । भट्टलोल्लट का उत्पत्ति-वाद या आरोपवाद भी भिन्न है, जिसमें विभावादि कारणों के साथ स्थायी भाव के संयोग द्वारा अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानी जाती है और नटपर उसका आरोप

---

1. क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम् ।
रसत्वमभ्युपगत तथानुभवमात्रत: ।।
इहानुभवसिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रस: ।
जडैनैव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते ।। भक्तिरसायन- 2/79-80.

2. "विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि: स्वाद्यत्वं हृदिभक्तानामानीता श्रवणादिभि: एषा कृष्णरति: स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत ।" हरिभक्तरसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी, 2/1/5. 6.

3. भगवान् परमानन्दस्वरूप: स्वयमेवहि मनोगतस्तदाकारो रसतामेतिपुष्कलम्- मधुसूदन सरस्वती, भक्तिरसायन.

प्रतिपादित किया जाता है । तथा शंकुक के अनुमितिवाद से भी भिन्न है,जिसमे अनुकार्य मुख्य रामादि के रूप में गृहीत नटरूप पक्ष में अकृत्रिम रूप में गृहीत विभावादि रूप हेतु से अनुकार्यभिन्न नट में रति काअनुमान कर लिया जाता है । इन दोनों पक्षों में आचार्यों द्वारा प्रदर्शित विप्रतिपत्तियाँ तो विद्यमान है ही, साथ ही भक्तिरस की दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि इसमें भक्त का अपना भाव ही आस्वाद-गोचर होकर रसरूपता धारण कर लेता है । न तो इसकी उत्पत्ति अनुकार्य में होती है और न ही नट में पक्षधर्मता {हेतु} का ग्रहण संभव होता है । दूसरी बात यह भी है कि पक्षधर्मता का ग्रहण या नट पर अनुकार्यगत भाव काआरोप नाट्य में तो सम्भव है किन्तु भक्ति के क्षेत्र में जहाँ रसानुभूति में कर्तृत्व श्रवणादि पर आधारित रहता है यह प्रक्रिया कैसे संभव हो सकती है? इसीलिये भट्टनायक की भावकत्व और भोजकत्व रूप दो व्यापारों की नवीन कल्पना भी अधिक कृतकार्य नहीं होती है । जिसमें एक के द्वारा विभावादि का साधारणी करण किया जाता है और दूसरे के द्वारा सत्वोद्रेक से होने वाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका संविद्विश्रान्ति सिद्ध की जाती है और इस प्रकार रस का भोग किया जाता है । न अभिनवगुप्त के प्रमातृगत सहजात मनोभाव के आस्वादन से ही निर्वाह हो सकता है । क्योंकि अन्य पात्रों के भावों का प्रधान पात्र के भाव में विलय और प्रधानपात्रगत भाव की सहृदयगत भाव से एकतानता का सिद्धान्त भक्तिरस के विषय में लागू नहीं होता है । भक्तिरस में भाव का आश्रय भक्त ही होता है, नाट्यगत पात्र नहीं, जैसा कि लौकिक रस में हुआकरता है । इन्हीं कारणों से भक्तिरस के अनुयायियों को रसानुभूति की नवीन प्रक्रिया की परिकल्पना करनी पड़ी ।

भक्तिरस के क्षेत्र में सर्वाधिक नवीनता स्थायी भाव की परिकल्पना में है । काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जो विच्छिन्न न हो तथा अन्य भावों को निजरूपत्व प्रदान करने में समर्थ होता है वही स्थायिभाव कहलाता है[1]।

---

1. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।। दशरूपक- 4/34.

यह स्थायिभाव ही विरूद्ध या अविरूद्ध भाव से अनावृत रहता हुआ आस्वाद का मूलभूत भाव कहा जाता है । भक्तिरस के सन्दर्भ में आचार्य रूपगोस्वामी ने लिखा है कि विरूद्ध तथा अविरूद्ध सभी भावों को अपने अनुगत करके यह स्थायिभाव राजा की ही भाँति विराजता है [1] । भक्तिरस में श्रीकृष्ण के प्रति होने वाली "रति" को ही स्थायिभाव कहा गया है । [2]

अब प्रश्न उठता है कि "भक्ति" या "कृष्ण रति" को स्थायी भाव की संज्ञा क्यों और किस प्रकार प्राप्त होती है । इसके समाधान हेतु कहते हैं कि वस्तुतः पूर्ण भक्ति तो प्रेमाभक्ति ही है । उसकी पूर्व कोटि रति या भाव भक्ति को ही स्थायिभाव की संज्ञा प्राप्त हो जाती है । तीव्र तथा परिवृद्ध रति ही प्रेमाभक्ति बन जाती है । दूसरी बात यह है कि अन्य देवादि से सम्बन्धित होने के कारण "रति" भाव मानी गयी है, किन्तु परमात्मा से नियोजित करते ही यह अलौकिक आनन्ददायिनी रति भक्तिरस का रूप धारण कर लेती है [3] । जब तक स्थायी भाव रसरूपता को धारण नहीं करता तब तक वह भाव संज्ञा का ही अधिकारी रहता है ।

स्थायी भाव की रसरूपतापत्ति के विषय में भक्त आचार्यों का सामान्य आचार्यों से विशेष मतभेद नहीं है । इस प्रसंग में भक्त आचार्यों ने अनेकशः भरतमुनि का ही अतिदेश किया है । रूपगोस्वामी के अनुसार विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव,

---

1. अविरूद्धान् विरूद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन् ।
सुराजेव विराजेत् स स्थायी भाव उच्यते ।। भक्तिरसामृतसिन्धु-दक्षिण विभाग/। स्थायिभाव .

2. स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ।
।। भक्तिरसामृतसिन्धु- स्थायिभाव-2

3. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेय-योर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोति-रसविदां मर्यादा ? भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती- 1/9 व्याख्या.

तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा श्रवण (मनन) आदि की सहायता से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त हुआ यह भगवद्रति (एषा कृष्णरतिः) रूप स्थायी भाव भक्तिरस कहलाता है[1]। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार स्थायी भाव सामाजिक में ही रहता है। जब उसका संयोग विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से होता है तब सामाजिक तथा अभिनेय (अनुकार्य कृष्णादि) से उनके भेद का तिरोधान हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप अभेद प्रतीति के साथ भगवद्गत परमानन्दरूपता सामाजिक में आ जाती है। और यही रसनिष्पत्ति है[2]। यह रस महाकवि कर्णपूर के शब्दों में "आस्वादांकुरकंद" के नाम से विख्यात हुआ है[3] और रस के विभिन्न भेदों को उपाधि-निसृत स्वीकार किया गया है[4]। तथा रसनिष्पत्ति में कवि कर्णपूर ने भी भरतमुनि के ही रससूत्र को आधार बनाया है[5]। श्री रूपगोस्वामी के अनुसार भगवान् की रति के कारण कहे जाने वाले कृष्णभक्त, मुरली-नाद आदि भक्तिरस की निष्पत्ति में विभाव कहे जाते हैं। स्मित (कटाक्षादि) आदि को यहाँ अनुभाव माना गया है। तथा जड़ता आदि सात्त्विक कहलाते हैं और निर्वेदादि ही यहाँ संचारी या व्यभिचारी के

---

1. सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता ।
   विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।।
   स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
   एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।। भक्तिरसामृतसिन्धु,
   दक्षिण विभाग, विभाव लहरी- 5-6.
2. विभावानुभावव्यभिचारि संयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययो-र्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्द साक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोति इति रसविदां मर्यादा । भक्तिरसायन- 1/9 व्याख्या.
3. आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः ।
   रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतयासतः । अलंकार कौस्तुभ- 63. कारिका.
4. रसस्यहयानन्दधर्मात्-एकध्यं भाव एव हि ।
   उपाधिभेदन्नानात्वं-रत्यादय उपाधयः ।। अलंकार कौस्तुभ- 71.
5. विभावानुभावव्यभिचारीपुरस्कृतः ।
   स्थायीभावो रसतां लभते । अलंकार कौस्तुभ- कर्णपूर- पृ. - 118

रूप में प्रतिष्ठित है[1]। भक्तिरस निष्पत्ति का यही सिद्धान्त सुविख्यात है ।

आचार्य रूपगोस्वामी की मान्यता के अन्तर्गत सर्वथा कृष्ण आदि के साक्षात् अनुभव से अद्भुत कोई प्रौढ़ आनन्दमय चमत्कार, भक्तों के द्वारा आस्वादित होकर रस बन जाता है[2]। रति तथा विभावादिकों से एकीभाव होता हुआ भी यह रस, जानने योग्य अवान्तर भेदों से अपने-अपने भिन्न-भिन्न विशेषत्व को प्राप्त कर लेता है । इस रस के उद्बोध में रति के कारणभूत कृष्ण तथा उनके प्रिय आदि, रति के कार्य भूत स्तम्भ आदि एवं रति के सहायक निर्वेद आदि, कारण-कार्य शब्द व्यवहार से रहित होकर विभाव, अनुभाव तथा संचारी व्यभिचारी संज्ञा को धारण कर लेते हैं[3]। तत्तद् आस्वाद विशेष के लिये रति में अति योग्यता प्रदान करने वाले तत्व ही विभाव रूप मे प्रतिष्ठित है[4]। जो तत्व रति को अनुभावित करते है, वे आस्वाद विशेष को प्रकाशित करने के कारण अनुभाव कहलाते हैं[5]। और जो रति को अपनी स्थिति में

---

1. ये कृष्ण भक्तमुरलीनादाद्या हेतवो रतेः ।
   कार्यभूताः स्मिताद्याश्च तथाऽष्टौ स्तब्धताऽऽदयः ।।
   निर्वेदाद्याः सहायाश्च ते ज्ञेया रस भावने ।
   विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिण ।। भक्तिरसामृतसिन्धु, विभाव-लहरी- 13-14.

2. तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुतः ।
   प्रौढ़ानन्द चमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते ।। भक्तिरसामृतसिन्धु-65. स्थायिभाव.

3. रतेः कारणभूता ये कृष्णकृष्णप्रियादयः ।
   स्तम्भाद्याः कार्यभूताश्च निर्वेदाद्याः सहायकाः ।। 67.
   हित्वा कारणकार्यादिशब्दवाच्यत्वमत्र ते ।
   रसोद्बोधे विभावादिव्यपदेश्यत्वमाप्नुयुः ।। 68. भक्तिरसामृतसिन्धु-स्थायिभाव.

4. तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादन हेतवः ।।15. भक्तिरसामृतसिन्धु. विभावलहरी

5. अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
   ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया ।। 1. भक्तिरसामृतसिन्धु-अनुभाव लहरी.

रखते हुये, उसमें वैचित्र्य का संचार करते है वे संचारी कहे जाते हैं[1]। यथार्थतः इन भावों का मुख्य कारण है- अद्भुत सम्पत्ति सम्पन्ना उस रति का श्रेष्ठ प्रभाव। इस प्रभाव से ही ये भाव भागवान् के काव्य तथा नाटक आदि में रसरूप हो जाते है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भक्तिरस में सर्वाधिक अद्भुत कृष्ण विषयक यह अलौकिक रति, श्रीकृष्ण के संयोग होने पर हरिभक्त में रस विशेष को उत्पन्न कर देती है। वियोग में अद्भुत आनन्द के आतात्त्विक अन्य रूप को प्राप्त करते हुये भी, पुष्ट होकर यही रति प्रगाढ़ पीड़ा के आधिक्याभास को उत्पन्न कर भी संवर्द्धित हो जाती है। इस प्रकार परमानन्द के तादात्म्य से वस्तुतः रस रूप इस रति आदि का स्वप्रकाशत्व एवम् अखण्डत्व स्वतः सिद्ध है[2]। इस प्रकार प्राक्तन रस-पद्धति के लक्ष्य और निष्पत्ति की प्रक्रिया से भक्तिरस का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुये वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरस के स्वतन्त्र अस्तित्व की उद्घोषणा की है। इस प्रकार भक्तिरस की सत्ता सिद्ध हो जाने पर चैतन्यचन्द्रोदयम् में शान्त रस को अंगी रस प्रतिपादित करना भ्रामक है। अतः चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में भक्तिरस की प्रधानता स्वीकार करना युक्तिसंगत है।

---

1. निर्वेदोऽथ विषादो दैन्य ग्लानिश्रमौ च मद गर्वौ।
   शङ्कात्रासावेगाः उन्मादापस्मृती तथा व्यधि ।। 4.
   - भक्तिरसामृतसिन्धु व्यभिचारी भाव लहरी. 93

2. परमानन्द तादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः ।।
   रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्धयति ।। भक्तिरसामृतसिन्धु- स्थायिभाव.

3. रस की दृष्टि से चैतन्य-चन्द्रोदय भी शान्त रस प्रधान ही है।
   डॉ० ओंकारनाथ पाण्डेय, संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक नाटकों का उद्भव और विकास। पृ. -109.

चैतन्यचन्द्रोदय में भक्तिरस-

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में सर्वत्र चैतन्य की भक्ति तथा भक्तिपरक चेष्टायें बिखरी पड़ी हैं । अतएव भक्तिरस का पूर्ण परिपाक इस नाटक मे आद्योपान्त हुआ है । चैतन्य कृष्ण के भक्तावतार है[1] । अतएव भक्ति भी उनके आविर्भाव के साथ ही साथ अवतरित हो जाती है, जो अल्पमात्र कृष्णनाम उच्चारण से प्रबुद्ध हो जाती है । ग्रन्थ के प्रारंभ में ही सूत्रधार परिपार्श्विक को बताता है कि मन के निगृहीत हो जाने पर निर्विशेष ब्रहम में तीन लोगों को परम पुरूषार्थ कहा जाता है और उसका साधन अद्वैत भावना है । भगवान् श्रीकृष्ण ही सविशेष ब्रहम है, सनन्दनादि द्वारा उपगीत उनकी उपासना ही पुरूषार्थ है । उस पुरूषार्थ का साधन विविध भक्तियोग-प्रधान नामकीर्त्तन है उसी को प्रचारित करने के लिये चैतन्य का जन्म हुआ । जन्म लेते ही इन्होंने समस्त जनों के मुख से हरिनाम का उच्चारण करवा दिया । युवावस्था के प्रारम्भ में ही कृष्ण प्रेम के कारण लक्ष्मी की तरह सुन्दर नवीन स्त्री का परित्याग कर संन्यासिराट् ईश्वर पुरी को अपना गुरू बनाया । तथा माधवपुरी के वशवर्त्ती दशाक्षर मन्त्र की दीक्षा ली । इस प्रकार भक्ति की यह प्रारम्भिक अवस्था है । संसार की निःसारता उनके हृदय में वैराग्य भाव को जागृत कर कृष्ण के चरणकमलों में राग उत्पन्न करा देती है- यथा-

> आरम्भ एव वयसोऽभिनवस्य नव्यां, लक्ष्मीमिव द्युतिमतीं स विहाय भार्याम्।
> संपालयन्निबनिदेशमथो गयायां, यातश्चकार जनकस्य परेतकार्यम् ।।
> तत्रैव दैववशतः समुपेयिवांस,न्यासीन्द्रमीश्वरपुरीमुररीचकार ।
> शिक्षागुरूर्गुरूतया दश वर्णविद्यामासाद्य माधवपुरीन्द्रवशा वशीशः ।।[2]

---

1. भगवता अवतारः कृतो भक्तवेशेन । चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 51.

2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/30-31.

यहाँ पर कृष्ण विषयक प्रीति स्थायी भाव है । श्रीकृष्ण आलम्बन विभाव है, कृष्णनाम सकीर्त्तन उद्दीपन विभाव है । स्त्री का परित्याग, संन्यासिराट् ईश्वरपुरी को गुरू बनाना और दशाक्षर मन्त्र का ग्रहण आदि अनुभाव हैं । हर्ष, स्मृति, मोह, आदि सचारीभाव है । इनसे अभिव्यक्त कृष्ण रति भाव भक्तिरस रूप में परिणत हो रहा है ।

भक्ति प्राप्ति के पश्चात् चैतन्य के हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम दृढ़ हो जाता है । वह ईश्वर के साथ साक्षात्कार हेतु उत्कण्ठित होने लगता है । साक्षात्कार की अवस्था में आनन्द निमग्न हो जाता है और भक्तावेश के स्मरण में आ जाने पर प्रकृतिस्थ हो जाता है । तथा ईश्वर संयोगाभाव की स्थिति में उन्हीं के रूपगुण गान में अवलीन रहता है । इस अवस्था में भक्त अत्यधिक भावुक हो जाता है और कृष्ण नाम के उच्चारण से ही रोमाञ्चित हो जाता है । यथा-

आगत्य स स्वभवनं प्रियसंप्रदायैः, श्रीवास-राम-हरिदासमुखैः परीतः ।
गायन्नटन्नभिनयन्विरूदन्नमन्दमानन्दसिन्धुषु निमज्जयति त्रिलोकीम् ।।

श्रीवासस्य गृहे कदाचन कदाप्याचार्यरत्नालये
श्रीविद्यानिधिमन्दिरेऽपि च कदा गेहे मुरारेरपि ।
गायत्सु प्रियपार्षदेषु पुलकस्तम्भाश्रुधर्मादिभिः
सान्द्रानन्दमयीभवन्ननुदिनं देवो नर्त्तान्नृत्येत ।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्णविषयक प्रीति स्थायी भाव है । कृष्ण आलम्बन है कृष्ण नाम का श्रवण होना उद्दीपन विभाव है । कृष्णनाम का यशकीर्त्तन करना, अभिनय करना, नृत्य करना आदि अनुभाव है । उत्कण्ठा, विह्वलता, हर्ष आदि व्यभिचारिभाव है । रोमाञ्च अश्रुप्रवाह आदि सात्विक भाव है । इनके सहयोग से भक्तिरस आस्वाद्यमान हो रहा है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/32, 2/17.

भक्त (चैतन्य) कृष्ण का यह क्षणिक संयोग ग्रहण कर लेने के पश्चात् दिनरात भक्ति के उसी सुख में डूबा रहता है । धीरे-धीरे वह उन्माद की उस चरम अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ पर ईश्वर के ऐश्वर्यज्ञान का लोप हो जाता है । भक्त में कृष्ण से अभिन्न लक्षण प्रकट होने लगता है जिससे देखने मात्र से लोगों के हृदय में कृष्ण भक्ति का स्फुरण हो जाता है । एक मद्यपायी दर्जी भी उन्हें देखते ही रोमाञ्चित हो जाता है उसकी आँखो से निरन्तर प्रवाहित होने वाले अश्रुप्रवाह से उसकी छाती गीली हो जाती है, समस्त वस्त्र फेंककर वह नृत्य करने लगता है-

"दृष्ट्वा तत्क्षणतः मदिरामदतोऽपि मादकतमेन तस्यदर्शनमदेन विह्वलो भूत्वा विकसितनेत्रो ह्रीह्रीमुखो दृष्टं-दृष्टं कम्पितसर्वाङ्ग पुलकितो निरन्तरनिःसरत्प्रवाहवाह-सलिलस्तिमितवक्षःस्थलो वसनादिकं विक्षिप्य ऊर्ध्वबाहुर्नर्तितु प्रवृत्तः सः ।"[1]

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन विभाव है, चैतन्य महाप्रभु का दर्शन उद्दीपन विभाव है आँखे विकसित करके ह्रीह्रीकरना, अश्रुप्रवाहित होना, कपड़े फेंक देना तथा नृत्य करना आदि अनुभाव है, आवेग, हर्ष, निर्वेद आदि सञ्चारी भाव हैं । इनसे अभिव्यक्त होकर कृष्ण रति भाव भक्तिरस की चर्वणा कराता है ।

कृष्ण में अपनी अनन्य भक्ति के कारण चैतन्य लोगो के हृदय में राधा का भी अनुकरण कराने के लिये राधाभाव का अनुकरण करते हैं और नृत्य करते हैं । नृत्य करने के साथ ही साथ अपने प्रवाहित होते अश्रुप्रवाह से दिशाओं में मकरन्द की सृष्टि करते हैं तथा भ्रमरों को अपने भ्रूयुग से पराजित करते है । तत्पश्चात् चैतन्य कृष्ण प्रेम की पराकाष्ठा के कारण संन्यास वेष धारण कर लेते हैं और अपना नाम "कृष्णचैतन्य"

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 55.

रख लेते हैं । संन्यासग्रहणोपरान्त वृन्दावन जाने की इच्छा से वृन्दावन-मार्ग पर बढ़ते है । किन्तु कृष्ण प्रेम की अधिकता के कारण उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, उर: स्थल अश्रुप्रवाह से गीला हो रहा है, पथ तथा अपना कुछ भी स्मरण नहीं रह गया है । यथा-

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महद्भिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दांघ्रिनिषेवयेव ।।
अयन्था: पन्था: वा न भवति दृशोरस्य विषय: ।
किमुच्चं नीचं वा किमथ सलिलं वा किमु वनम् ।।
प्रभिन्नोऽयं वन्यो गज इव चलत्येव न पुन: ।
पुरो वा पश्चाद्वा कलयति न चात्मानमपि च ।।[1]

यहाँ पर भी कृष्णविषयक प्रीति स्थायीभाव है । कृष्ण आलम्बन विभाव है । लोगों के हृदय में राधाभाव का स्नेह जागृत कराना, और कृष्ण प्रेम में वृन्दावन जाना उद्दीपन विभाव है । राधा का अनुकरण, संन्यास-ग्रहण करना, कृष्णचैतन्य नाम रखना, तथा चेतनाशून्य होना अनुभाव है । विस्मृति, हर्ष, उन्माद, मद एवं उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी भाव है । इन सबके सहयोग से भक्तिरस अभिव्यक्त हो रहा है ।

चैतन्य की कृष्ण में इतनी गाढानुरक्ति है कि वह मार्ग में पड़ने वाली गङ्गा नदी को नित्यानन्द के सङ्केत पर यमुना नदी समझते है और सत् असत् के ज्ञान से परे होकर निश्छल भाव से उसकी स्तुति भी करते है । यथा-

चिदानन्दभानो: सदा नन्दसूनो: परप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री ।
अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री पवित्रीक्रियान्नो वपुर्मित्रपुत्री ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/1, 4.
2. वही.- 5/10.

प्रस्तुत स्थल पर चैतन्य कृष्ण प्रेम में इतने एकाकार हो गये हैं जिसके परिणाम-स्वरूप वे वस्तुस्थिति को समझने में अक्षम हो गये हैं । कृष्ण विषया प्रीति परिपक्व होकर प्रेम में परिवर्त्तित हो गई है । यमुना नदी की स्तुति अनुभाव है । मद, उन्माद आदि संचारी भाव है । इनके सहयोग से ही चैतन्य की प्रीति भक्तिरस में आस्वादित हो रही है ।

कृष्ण प्रेम में चैतन्य की अनुराग विह्वलता यत्र तत्र दृश्यमान होती है जिसमें वे पूर्णतः विभोर हो जाते हैं । मथुरा से लौटकर जब वे वृन्दावन पहुँचे जहाँ यमुना के तटवर्त्ती कानन में अनुरागवश मुक्तकण्ठ होकर विलाप करनें लगते हैं, लताओं का आलिङ्गन करते हैं, अति रमणीय शोभा को देखकर जमीन पर गिर पड़ते हैं, लोटने लगते हैं, चिल्लाते हैं, भागते है, और विषाद का अनुभव कर मूर्च्छित हो जाते हैं, उनके मुख से निकले फेन को हरिणगण चाटने लगते हैं और नेत्रों से प्रवाहित अश्रु को पक्षिगण पीने लगते हैं । इस प्रकार कृष्णचैतन्य कृष्णानुराग मे अधिक विकल हो उठते हैं । उनकी देह केवल उनकी ऐश्वर्य भक्ति पर ही टिकी है । यथा-

> मदमुदितमयूरकण्ठकान्तद्युतिमभिवीक्ष्य कुतश्चिदप्यकस्मात् ।
> स्खलति लुठति वेपते विरौति द्रवति विषीदति हन्त मूर्च्छतीशः ।।
> कुञ्जसीमनि कदापि यदृच्छामूर्च्छया निपतितस्य धरण्याम् ।
> आलिहन्ति हरिणा मुखफेनानापिबन्ति शकुना नयनाम्भः ।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण आलम्बन विभाव है । वृन्दावन शोभा उद्दीपन विभाव है । अनुराग विह्वल होकर विभिन्न क्रियायें करना अनुभाव है । आवेग, मोह, स्मृति, हर्ष, उन्माद आदि सञ्चारी भाव है । इस सबके सहयोग से चैतन्य के उरः स्थल में भक्तिरस का प्रादुर्भाव हो रहा है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 9/22, 24.

श्री जगन्नाथ स्वामी की रथयात्रा आने पर चैतन्य स्वयं गुण्डिचामण्डप को परिमार्जित करते हैं और यात्रा शुरू होने पर वे रोमाञ्चित हो जाते हैं, उनके नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं, कृष्ण प्रेम में कभी वह मृगराज की तरह तड़प उठते हैं, मुख फेनयुक्त हो जाता है, मूर्च्छित हो जाते हैं उन्हें सामान्य अवस्था में लाने के लिये कृष्णनाम-संकीर्त्तन किया जाता था जिससे उनकी चेतना लौटती थी । यथा-

क्षणमुत्प्लवते मृगेन्द्रकल्पं क्षणमाधावति मत्तनागतुल्यम्
भ्रमति क्षणमप्यलातचक्रप्रभमानन्दतरङ्गतो यतीन्द्रः
आनन्दाम्बुनिधेर्न वेद्मि कतमैरूच्चावचैरूर्मिभि-
र्नृत्योन्मादमदेन गौरभगवत्यानन्दमूर्च्छां गते

निष्ठेवः कठिनो भ्रमत्रवदभूच्छ्वासो न संलक्ष्यते ।
कान्तिः केवलमुज्जवलैव सुहृदामाश्वासबीजायते ।।
येनैव गीतेन बभूव मूर्च्छा तेनैव भूयो जनि संप्रबोधः ।
किमेक एवैष स कोऽपि मन्त्रः प्रयोगसहारविधौ स्वतन्त्रः ।।[1]

इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हमें नायक की कृष्ण में उत्कट भक्ति दृश्यमान होती है । यहाँ पर चैतन्य के हृदय में वर्तमान कृष्ण रति नामक स्थायी भाव है । कृष्ण इसके आलम्बन विभाव है । वृन्दावन की शोभा, गुण्डिचा-मार्जन और गुण्डिचा यात्रा आदि उद्दीपन विभाव है । गजराज की भाँति दौड़ना, मूर्च्छित होना, अश्रु प्रवाहित करना, आदि अनुभाव है । हर्ष, आवेग, विह्वलता आदि सञ्चारी भाव है । इन विभाव, अनुभाव व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट कृष्णरति नामक स्थायी भाव से भक्तिरस पुष्ट हो रहा है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/50, 52, 54.

वात्सल्य रस-

पुत्र के प्रति माता-पिता की अनुरक्ति या उनका स्नेह एक अवस्था उत्पन्न करता है, जिसे विद्वानों ने वात्सल्य रस कहा है । नव रसों के अतिरिक्त "वत्सल" को भी रस मानने की एक प्राचीन परम्परा रही है । जिनमें वात्सल्य रस का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य रूद्रट्ट हैं ।[1] भामह तथा दण्डी आदि आलङ्कारिक आचार्यों ने इसे वात्सल्य रस न कहकर प्रेम का प्रियतर रूप कहा है-"प्रेयः प्रियतराख्यानम् तथा उसे"प्रेयंस रस" का नाम दिया है । बाद में अभिनव गुप्त ने "बालस्य माता पित्रादौ स्नेहो भये निश्रान्तः" कहकर वत्सलता को भय में अन्तर्भुक्त सिद्ध किया और उसे भावमात्र माना । आचार्य मम्मट ने इसे देवादिविषयक रति को भावमात्र मानकर उन्ही का अनुगमन किया । भोजराज ने अन्य रसों के साथ वात्सल्य रस को भी स्पष्टतया परिगणित किया है ।[2] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को मुनीन्द्र सम्मत बताते हुये उसका निरूपण इस प्रकार किया है-

अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।[3]

वात्सल्य रस मुनीन्द्र सम्मत रस है । यह नाट्यशास्त्र की इस उक्ति से ही प्रमाणित हो जाता है--

"तत्र हास्यश्रृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करूणावात्सल्यः भयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितवर्णैः पाठ्यमुपपादयति ।"[4]

---

1. काव्यालंकार, रूद्रट्ट, 12/3.
2. श्रृंगार प्रकाश, भोज, 1/6.
3. साहित्य दर्पण- 3/251.
4. नाट्य शास्त्र-काव्यमाला संस्करण, पृ. - 127.

विश्वनाथ कविराज के अनुसार "वात्सल्य" का स्थायी वत्सलतारूप स्नेह है । किन्तु "कारूण्य" को "वात्सल्य" का स्थायी मानने वाले भी आचार्य हैं । "मन्दारमरन्दचम्पू" के रचयिता ने "कारूण्य" को वात्सल्य का स्थायी भाव माना है[1] । कविकर्णपूर नें यशोदा के वात्सल्य का निरूपण करते हुये "ममकार" को इसका स्थायी भाव माना है ।[2]

वात्सल्य रस को दसवें रस के रूप में विश्वनाथ कविराज ने ही प्रतिपादित किया है । इसका स्थायी भाव वत्सलता या स्नेह माना गया है । पुत्रादि सन्तान इसके आलम्बन हैं । उसकी चेष्टायें, विद्या-बुद्धि तथा शौर्यादि उद्दीपन विभाव हैं । अलिङ्गन, स्पर्श, शिरश्चुम्बन, पुलकादिभाव अनुभाव हैं । तथा अनिष्टशङ्का, हर्ष, गर्व, आदि सञ्चारी भाव हैं । इसका वर्ण पद्म गर्भ छवि के समान तथा इसके देवता जगदम्बा है[3] । वैष्णवाचार्य श्री रूपगोस्वामी ने भी विभावादि द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ वात्सल्य रूप स्थायिभाव को ही वात्सल्य रस कहा है[4] ।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में चैतन्य की संन्यासियों के प्रति भक्ति देखकर शची देवी पुत्र वात्सल्य भाव के कारण किसी अनिष्ट की आशंका से डरकर चैतन्य से इस विषय में पूछती हैं--

शची- पुत्र, संन्यासिनं प्रति कथं त एतादृश आदरः ।
यत्तस्मिन्दिवसे केशवभारतीं प्रति तादृशी भक्तिः कृता त्वया ।

देवः- अम्ब, ते खलु परमभागवता भवन्ति ।

शची- तत्वं कथय । संन्यासो वा कर्त्तव्यस्त्वया ।

---

1. अन्ये तु करूणास्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च । मन्दारमरन्दचम्पू-पृ. -100.
2. अलंकार कौस्तुभ- पृ. - 148.
3. स्फुटं चमत्कारितया----मतम् ।।
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विधाशौर्यदयादयः
आलिङ्गनाङ्ग.-----------------क्षणम् ।। 252
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ।। 253.

देव:- §विहस्य§ अम्ब, कुतोऽयं ते भ्रमः । इदमपि भवति किम् ।

शची- वत्स, एतेनैव तेऽग्रजेन दत्तं पुस्तकं मया पाकसमये चुल्लीमध्ये दत्वा ज्वालितम्।

देव:- किं पुस्तकं कथं वा प्रदीपितम् ।

शची- विश्वरूपेण मे कथितम् । मया तावत्तावदेव तद्रक्षितं
यावत्स प्रव्रजितो न भूतः । प्रव्रजिते तत्रायमप्येतत्पुस्तकं
लब्ध्वा प्रव्रजितो भविष्यतीति तव शङ्कया ज्वालितम् ।"[1]

यहाँ पुत्र चैतन्य आलम्बन विभाव है । उसका सन्यासियों के प्रति आकर्षण उद्दीपन विभाव है । पुत्र वात्सल्य के कारण पुस्तक को जला देना, प्रश्नोत्तर करना आदि अनुभाव हैं । अनिष्ट-शङ्का, गर्व आदि सञ्चारी भाव हैं । इन विभावानुभाव एवं सञ्चारी भावों से पुष्ट "वात्सल्य" नामक स्थायी भाव वात्सल्य रस में परिणत हो रहा है ।

पञ्चमाङ्क में यतीन्द्रवेशधारी चैतन्य गृह त्याग के बाद जब पुनः अद्वैत के घर आते हैं तब नवद्वीप के बाल युवक, वृद्ध इन सबके साथ शची देवी § चैतन्य की माता§ भी उनके दर्शनार्थ आतीं हैं और भय, भक्ति, वात्सल्य, परितोष से भरे अश्रुगद्गद स्वर में कहतीं हुयी उत्कण्ठा पूर्वक उनका आलिङ्गन कर लेती हैं--

माता- § सभयभक्तिवात्सल्यपरितोषबलिताश्रुपुलकगद्गदम् ।§
वैराग्यमेव भव किं किमु वानुभूति-
भक्तिर्नु वा किमु रसः परमस्तनूभृत् ।
तात स्तनंधयतयैव भवन्तमीक्षे
लब्धोऽधुनापि न कदापि पुनस्त्यजामि ।। 5/27.
§ इति सोत्कण्ठमालिङ्गति §

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 125.

इसी प्रकार षष्ठाङ्क में भी जब चैतन्य अद्वैतपुर से जाने के लिये अपने प्रियजनों से आज्ञा माँगते हैं और बन्धु बान्धव स्नेह के वशीभूत होकर उन्हें जाने की आज्ञा नहीं देते हैं तब शची देवी पुत्र के कल्याण को ध्यान में रखकर कहतीं हैं-

"तदा तया गदितम् । अस्माकं यथा तथा भवतु । अस्य दोषं यत्खलजनः प्रेक्ष्यते तत्खलु दुःसहम् । जगन्नाथं यदि गच्छति तदा मध्ये यूयं गन्तुं शक्नुत । मया प्रवृत्तिर्लक्ष्यते ।"[1]

यहाँ पर वात्सल्य नामक स्थायी भाव है । पुत्र चैतन्य इसके आलम्बन हैं । चैतन्य का पुनः नवद्वीप आगमन और यतीन्द्रवेष उद्दीपनविभाव है । उत्कण्ठापूर्वक पुत्र का आलिङ्गन करना तथा पुत्र हित में जगन्नाथ गमन की स्वीकृति देना अनुभाव है । हर्ष, गर्व, अनिष्ट-शङ्का आदि सञ्चारी भाव हैं । ये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव परस्पर संयुक्त होकर ही वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति कराते हैं ।

हास्य रस-

आद्याचार्य भरत ने "हास" स्थायी भाव के आधार पर व्यक्त होने वाले हास्य रस का मूल कारण "विकृति" बताया है । नवरसों में यह सर्वाधिक सुखात्मक है । इसकी उत्पत्ति श्रृङ्गार रस से उसकी अनुकृति द्वारा होती है[2] । श्रृङ्गार से उत्पन्न होने पर भी उसका वर्ण श्रृङ्गार के श्याम वर्ण के विपरीत श्वेत है । श्रृङ्गार के देवता

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ॰ - 183.

2. नाट्य शास्त्र- 6/404, पृ॰ - 294.

विष्णु के स्थान पर इसके देवता "प्रमथ" अर्थात् शिवगण बताये गये हैं[1]। इसका आविर्भाव आकार, विकृति, वाग्विकृति, वेष-विकृति, चेष्टा-विकृति किं वा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनयन से हुआ करता है । क्योंकि यह अपने विकृत व्यवहार, वाक्य, अङ्गों की क्रियाये एवं विकृत वेष से मनुष्यों को हंसाता है अतएव इसे हास्य रस कहते हैं[2]। हास्य रस के अभिव्यञ्जन के लिये "हास" स्थायी भाव के आलम्बन कुक्कुट-मिश्रादि को देखकर हँसने वाले हास के आश्रय का साक्षात् निबन्धन किसी काव्यादि में नहीं होता, केवल हास्य के आलम्बन और उद्दीपनादि ही उपन्यस्त किये जाते हैं तथापि विभावादिकों के सामर्थ्य से नायक अर्थापत्ति द्वारा उपलब्ध होता है और फिर उसके साथ साधारण्याभिमान से सामाजिक लोग हास्यरस का अनुभव करते हैं । आलम्बन उद्दीपन विभाव बिना आश्रय के नहीं बन सकते, अतः वे अपने सम्बन्धी नायक को अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा उपस्थापित करते हैं[3]। इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार वाणी और चेष्टा की विकृतियाँ दिखायी दिया करती हैं और जिसे देख-देख लोग हँसा करते हैं । ऐसे हास्यप्रद व्यक्ति की जो चेष्टायें हैं वे ही यहाँ उद्दीपन होती है । इसके अनुभाव वर्ग में नेत्र-निमीलन, मुख-विकास, आदि-आदि की गणना होती है । निद्रा, आलस्य, अवहित्था, आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं ।

तृतीयाङ्क में गोपीश्वर पूजा के लिये लवङ्गवाटिका में पुष्पों का चयन करती हुयी राधा को जब कोई दुष्ट भ्रमर बाधित करता है और वह सहायतार्थ सखियों को पुकारती हैं तब उसकी सखियाँ परिहास करती हुयी कहती हैं-

---

1. श्यामो भवति श्रृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।। नाट्य शास्त्र- 6/43.
   श्रृङ्गारो विष्णु दैवत्यो हास्यः प्रमथ दैवतः ।। नाट्य शास्त्र- 6/45.
2. विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
   हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ।।
   विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।। साहित्य दर्पण- 3/215-216.
3. यस्य हास्यः स चेत्क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।
   तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ।। साहित्य दर्पण- 3/220.
   अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।
   सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ।। साहित्य दर्पण- 2/221.

सख्यः-

"मुक्त्वा नवङ्गलतिकां चपलो मधुसूदन एषः ।
प्रियसखि अनियतप्रेमा तव मुखगन्धेनान्धो भ्रमति ।।"[1]

यहाँ पर सखियों की वचोभङ्गी से सहृदय का हास स्थायी भाव अभिव्यक्त होकर हास्यरस में परिणत होता है ।

पुष्पावचय करती हुयी इन राधा तथा उसकी सखियों को कृष्ण के मित्र सुबल एवं कुसुमासव उन्हें पुष्पों को तोड़ने से मना करते हुये उस वन पर अपना आधिपत्य बताते हैं जिसे सुनकर ललिता कहती है-

ललिता- "अये बटुक तव वयस्योऽस्य वनस्य कः" ।

कुसुमासव- ललिते अधिकार्ययम् ।

ललिता- भवति, एवं चेतद् अधिकोऽरिर्यदि न भवेत्तदा कथमस्मत्प्रियसख्या एतस्य वनस्यैतावत्यवस्था ।

कुसुमासव- ललिते, पाण्डित्यं प्रकाशयसि । भवतु भवतु । अस्मद्वयस्य एतस्य वनस्याधिकोऽरिरेव । एतद्वनं तव प्रियसख्याः कथं जातम् ।

ललिता- उपभोग एव प्रमाणम् । अन्यथा कथं निःशङ्कं कुसुमान्याहरामः ।

जरती- सत्यमेव भणितं ललितया । मम नप्त्र्या एवैतद्वनम् । ययात्र देवतारूपेण नियोजिवात्मनः परिजनरूपा वृन्दाः ।

श्रीकृष्ण- (विहस्य) आर्ये, वृन्दा खलु तव नप्त्र्या परिजनरूपा । (पृ. -109)

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/49.

ललिता कुसुमासव जरती कृष्ण आदि के वचनों से हास्यरस पूर्णतया आस्वाद्य हो रहा है ।

राधा की सखियाँ कुसुमासव से बताती हैं कि वे गोपीश्वर की पूजा के लिये आयीं हैं तब कुसुमासव परिहास करता हुआ कहता है-

कुसुमासव- "अरे मूर्खाः, अयमेव गोवीश्वरः । इममेव पूजयत ।

सख्यः- महाकालो गोपीश्वरः ।

कुसुमासव- अयं कालः किं न भवति । यस्य रूचिपटलैः सर्वमेव वनं तमालवर्णं कृतम् ।

सख्यः- चन्द्रशेखर एवार्चितव्यः ।

कुसुमासव- पश्य पश्य । एष चन्द्रशेखरो न भवति ।
(इति बहवितंसं दर्शयति)

सख्यः- वाचाल, गौरीपतिं पूजयिष्यामः ।

कुसुमासव- यूयं गौर्यो न भवथ ।

सख्यः- अरे वाचाल, पशुपतिः पूजितव्यः ।

कुसुमासव- हन्त भोः एतावतीर्धेनूर्यः पालयति स किं पशुपतिर्न भवति ।

सख्यः- एव भणत । यस्यैता वयं पशवः स किं पशुपतिर्न भवति ।"

यहाँ पर भी सखियाँ और कुसुमासव की वाक्चेष्टाओं से सामाजिक का हास स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर चर्व्यमाण हो उठता है ।

करूण रस-

शोकरूप स्थायिभाव का पूर्णाभिव्यञ्जन करूण रस कहा गया है । इसका आविर्भाव शोक, क्लेश, विनिपात, इष्टजनविप्रयोग, विभव-नाश आदि विभावों से होता है ।[1.]

रस आह्लाद अथवा आनन्दरूप है । रसों में "करूण" की गणना आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद से ही होती आ रही है, जिसमें "करूण" रूप परमार्थ है तथा आह्लाद अथवा आनन्ददायक रस है ऐसा ध्वन्यालोककार का मानना है[2.] । कुछ आचार्यों का कथन है कि समस्त रत्यादि स्थायी भावों का आस्वाद सुखास्वाद है किन्तु शोक आदि कतिपय स्थायी भावों के आस्वाद में सुख का किञ्चिन्मात्र न्यूनत्व अवश्य मानना चाहिये[3.] । दशरूपककार भी करूण को आह्लादमय कहते हैं ।[4.]

विश्वनाथ कविराज का कथन है कि जो काव्य-मर्मज्ञ "करूण" को आनन्दात्मक नहीं मानते वे या तो "करूण" के आनन्द चमत्काररूप अनुभव से वंचित हैं या "करूण" के विभावादि में विभावनादि व्यापार के बदले कारणत्वादि का ही व्यापार मान लेते हैं

---

1. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करूणाख्यो रसो भवेत् । साहित्य-दर्पण- 3/222.
2. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।। ध्वन्यालोक- 1/5.
3. "द्रवीभावस्य सत्वधर्मत्वात् तं बिना च स्थायिभावासम्भवात् सत्वगुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्य-मवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः" । भक्तिरसायन-पृ. -22.
4. .... ।
   तस्माद्रसान्तरवत् करूणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव । दशरूपक- 4र्थ प्रकाश.

जो कि सर्वथा अनुचित है । लोक के शोक से दुःख होना स्वाभाविक है किन्तु काव्य-नाट्य के "शोक" से तो सुख का ही संवेदन संभव है जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी है और रामायण आदि महाकाव्य का आनन्द चमत्कार प्रमाण है[1]। अस्तु ।

इसका आलम्बन विनष्ट व्यक्ति होता है । प्रियजन की हानि का स्वरूप, मरणान्तर किसी का शव-दर्शन, उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन मृतक का गुण-श्रवण, कष्ट की कल्पना, दुःखित दशा आदि उद्दीपन विभाव है । दैवनिन्दन, भूमिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास-निःश्वास, स्तम्भ, प्रलपन, आदि इसके अनुभाव बताये गये हैं । निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, स्वर-भेदादि व्यभिचारी भाव हैं[2]।

प्रस्तुत नाटक के चतुर्थाङ्क में श्रीवास के प्राङ्गण में भगवत्सङ्कीर्तन के आयोजन की समाप्ति पर निशावसान की अन्तिम बेला में कृष्ण-चैतन्य के अचानक अदृश्य गमन से उनके सभी साथी उन्हें (चैतन्य को) अपने सम्मुख न पाकर किसी अनिष्ट की शङ्का से

---

1. करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।। साहित्य दर्पण- 3/4.
किं च तेषु यदा दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।।
न हि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव ।
हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।
अलौकिकविभावत्व प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं संजायते तेभ्यस्सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः । साहित्य दर्पण- 3/67.

2. शोकोऽत्र स्थायिभावः .... ।
.... व्यभिचारिणः ।।साहित्यदर्पण-3/223-225

भयभीत होकर विलाप करते है । स्थालीपुलाकन्यायेन के अनुसार यहाँ कुछ स्थल उद्धृत किये जा रहे हैं-

अद्वैत- (सास्रम्)

हे विश्वंभरदेव हे गुणनिधे हे प्रेमवारांनिधे
हे दीनोद्धरणावतार भगवन् हे भक्तचिन्तामणे ।
अन्धीकृत्य दृशो दिशोऽन्धतमसीकृत्यखिलप्राणिनां
शून्यीकृत्य मनांसि मुञ्चति भवान्केनापराधेन नः ।।[1]

श्रीवास-

पूर्वं मृतः कथमहो बत जीवितोऽहं
भूयोऽपि मारयसि किं बत जीवयित्वा ।
दुर्ललिता तव विभो न मनोऽधिगम्या
नन्वीश्वरो भवति केवलपाललील: ।।[2]
(विलपति)

यहाँ पर चैतन्य आलम्बन हैं । कष्ट की कल्पना दुःखित दशा आदि उद्दीपन विभाव हैं । क्रन्दन, भूमिपतन, निःश्वास, आदि अनुभाव हैं । ग्लानि, चिन्ता, आदि सञ्चारी भाव हैं । इन विभावादिकों से परिपुष्ट सहृदयस्थ शोकभाव करूण रस का आस्वाद कराता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/17.
2. वही. - 4/23.

अद्भुत रस-

नाटक में चैतन्य के अद्भुत कार्यों के प्रभाव में अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है । रस का प्राण "लोकोत्तरचमत्कार" है । यह "लोकोत्तर-चमत्कार" सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्तार है । अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के हृदय में एक ऐसी ज्ञानधारा सी प्रवाहित होने लगती है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हृदय विस्तृत हो गया है । यह हृदय का विस्तार ही चमत्कार है जिसे हृदय की "विस्मयाविष्टता" भी कह सकते हैं । यह "चमत्कार" अथवा "विस्मयावेश" ही अद्भुत रस का स्वरूप है । अस्तु ।

विभावादि सयोग से विस्मय नामक स्थायी भाव ही अद्भुत रस के रूपमें व्यक्त होता है । इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है । अलौकिक वस्तु का गुण-कीर्तन इसका उद्दीपन है । स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद्स्वर, संभ्रम, नेत्रविकास, आदि इसके अनुभाव हैं । इसमें वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष आदि सञ्चारी भाव हैं ।[1]

प्रथमाङ्क में जगन्नाथ तथा माधव नामक दो नीच ब्राह्मणों को जिनका दुष्ट विधर्मियों का संसर्ग था, अपने समीप बुलाकर चैतन्य ने उनके हाथ से पान जल ले लिया जिससे वे ब्राह्मण तत्काल दीप्तिमय हो गये । उनके शरीर रोमाञ्चित हो गये और वे गद्गदस्वर स्वर से कृष्ण-कृष्ण कहने लगे ।[2]

---

1. अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः ।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।। साहित्य दर्पण- 3/242-244.

2. ......जलं गृहीत्वा सद्य एव देदीप्यमानीक्रियमाणयोरूदित्वरत्वरमाण-
विपुलपुलककञ्चुकयोरानन्दनन्ददीक्षणसलिलयोः कृष्णकृष्णेति.........।
चैतन्यचन्द्रोदयम्-पृ. 20 .

यहाँ पर चैतन्य आलम्बन विभाव हैं । ब्राह्मणों से दान जल लेना उद्दीपन विभाव, दीप्तिमय होना, शरीर रोमाञ्चित होना, कृष्ण-कृष्ण कहना आदि अनुभाव हैं । हर्ष, संभ्रम आदि सञ्चारी भाव हैं । इन विभावादिकों से परिपुष्ट होकर स्थायि भाव अद्भुत रस का आस्वाद कराता है ।

नाटक के अन्त में स्वस्थ शरीर की आशा से सर्वथा निराश एक गलत्कुष्ठी ब्राह्मण वासुदेव थे उनके कुष्ठ से निकलने वाले पीव रक्त से उनका अङ्ग भरा था, कुष्ठ से निकल-निकल कर गिरने वाले कीड़ों को उठा-उठा कर वह पुनः उसी में रख दिया करते थे । कृष्ण चैतन्य ने वासुदेव को उसी स्थिति में अपने गले लगा लिया । गले लगाते ही वह वासुदेव गलत्कुष्ठी ब्राह्मण सद्यः अति सुन्दर शरीर हो गया ।[1]

यहाँ पर आलम्बन कृष्ण-चैतन्य हैं । चैतन्य का ब्राह्मण को गले लगाना उद्दीपन विभाव, शरीर का सद्यः सुन्दर हो जाना, अनुभाव और हर्ष, वितर्क, संभ्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन विभावादि से परिपुष्ट विस्मय नामक स्थायिभाव ही सहृदयों को अद्भुत रस का आस्वाद कराता है ।

आचार्यों ने निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की योजना पर बल दिया है ।[2] कुछ आचार्यों ने अद्भुत रस की अपरिहार्यता के हेतुओं का निर्वचन करते हुये लिखा है कि लोकोत्तर असम्भाव्य फल की प्राप्ति के लिये अन्त में अद्भुत रस होना चाहिये ।

---

1. ....अनन्तरम् अविलम्बेनैव चिरकाललब्धपरमसुहृदिव गाढतरमाय-
-ताभ्यां भुजाभ्यामय तथाविध एव पर्यदम्भि समनन्तरं तेन विग्रहेण ।
चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -233.

2. (क) ....कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।। दशरूपक- 3/34.
(ख) ....कार्यो निर्वहणेऽद्भुतम् ।। साहित्य दर्पण- 6/10
(ग) ....अद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।। नाट्य दर्पण- पृ. - 37.

इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त दूसरे हेतु का उपादान करते हुये बताया गया है कि यदि असाधारण वस्तु की प्राप्ति को नाटक का फल न माना जाये तो प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ फल तो अवश्य होता ही है[1]। अतः अन्त में अद्भुत रस का विधान आवश्यक है ।

रौद्र रस-

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है । क्रोध सहित सर्वेन्द्रिय का औद्धत्य ही संग्राम-हेतुक रौद्र रस है । इसका वर्ण लाल तथा देवता रूद्र हैं[2]। रूद्र कर्म ही रौद्र रस का जनक होता है । राक्षस शत्रु तथा उद्धव मनुष्य ही विशेषत रौद्रकर्मा होते हैं । यों तो इनके समान कृत्य करने वाले अन्य व्यक्तियों में भी यह सम्भावित है, किन्तु राक्षसादि स्वभाव से ही रौद्र होतें हैं । इसमें आलम्बन रूप से शत्रु का वर्णन किया जाता है और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन-विभाव का काम करती हैं । इसकी विशेष उद्दीप्ति मुष्टिप्रहार, भूपातन, भयंकर काटमार, शरीर विदारण, संग्राम और संभ्रम आदि से हुआ करती है । इसके अनुभाव है-भ्रूभङ्ग, होंठ चबाना, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद आदि । इसके जो व्यभिचारी भाव हैं उनमें मोह अमर्ष आदि का स्थान है ।[3]

---

1. नाट्य दर्पण- पृ. - 37.
2. रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रूद्राधिदैवतः ।
   ....मतम् ।। साहित्य दर्पण- 3/227.
3. साहित्य दर्पण- 3/227-230.

प्रस्तुत नाटक के दशम अङ्क में लक्ष्मी का रौद्र रूप दृष्टिगोचर होता है । जगन्नाथ प्रभु यद्यपि द्वारका लीला का अनुकरण करते हैं तथापि रथयात्रा के ब्याज से वृन्दावन की याद दिलाने वाले इन उद्यानों में विहार करने के उद्देश्य से प्रतिदिन नीलाचल को छोड़कर सुन्दराचल आ जाते हैं और वहाँ गोपाङ्गनाओं के साथ विहार करते हैं जिससे लक्ष्मी कुपित हो जाती है । उनके इस कोप-प्रयाण को देखकर स्वरूप का कथन है-

स्वरूप:- "(आलोक्य) भगवन्,

मानस्य क्रम एष नैव यदियं स्वैश्वर्यविख्यापकै-
नानादिव्यपरिच्छेदैः स्वयमहो देवं प्रतिक्रामति ।
व्यक्तं रौद्ररसोऽयमम्बुधिभुवः क्रोधस्य यत्स्थायिनो
भूयानेव विकार एष विदितं वैदग्ध्यमस्याः परम्"।।[1]

यहाँ जगन्नाथ प्रभु आलम्बन हैं । उनका जगन्नाथप्रभु सुन्दराचल उद्यान में गोपाङ्गनाओं के साथ विहार करना उद्दीपन विभाव है । अपमान के वशीभूत होकर अपने ऐश्वर्य को प्रख्यापित करने वाली नाना प्रकार की दिव्य सजावटें एवं प्रभु की परिक्रमा आदि अनुभव है । आवेग, रोमाञ्च, अमर्ष आदि सञ्चारी भाव हैं । इन विभावादिकों से परिपुष्ट रौद्र रस का आस्वादन होता है ।

तत्पश्चात् ब्रजराजपुत्ररूप प्रियतम द्वारा अपराध के तथा समीप आकर उचित रूप से प्रार्थना किये जाने पर पुनः क्रुद्ध होती लक्ष्मी का कथन है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/60.

"किं पादान्तमुपैषि नास्ति कुपिता नैवापराद्धो भवा-
न्निर्हेतुर्न हि जायते कृतधियां कोपोऽपराधोऽथवा ।।
योग्या एव हि भोग्यतां दधति ते तत्किं मयाऽयोग्यया
तेनाद्यावधि गोकुलेन्द्रतनय स्वाच्छन्द्यमेवास्तु ते ।।[1]

अपि च-

दूरादुत्थितमन्तिकं मयि गते पीठं करेणापि तं
स्मित्वा भाषिणि भाषितं मृदुसुधानिःस्यन्दि मन्दं वचः ।
आरूढेऽर्धमथासनं प्रकटितो हर्षस्तयाश्लिष्यति
प्रत्याश्लिष्टमवामयैव मनसो वाम्यं तयाविष्कृतम् ।।[2]

यहाँ पर भी आलम्बन जगन्नाथ प्रभु हैं । जगन्नाथ प्रभु का लक्ष्मी से प्रार्थना तथा अपराध की क्षमा माँगना उद्दीपन विभाव है । लक्ष्मी का कोप पूर्वक कथन, तथा अनुकूलता (हृदय की कुटिलता व्यक्त करने हेतु) भर्त्सना आदि अनुभाव हैं । क्रोध, अमर्ष, चपलता, उग्रता आदि सञ्चारी भाव हैं । इन विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से संयुक्त हुआ यह क्रोध नामक स्थायी भाव ही सहजतया रौद्र रस का आह्लाद कराता है ।

भाव-

नाटक में कुछ स्थलों पर भावों की अभिव्यक्ति हुयी है । देवता, मुनि, गुरू, राजा, एवं पुत्रादि विषयक रति और प्रधान रूप से व्यञ्जित व्यभिचारी भाव

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/65.
2. वही.- 10/66.

तथा उद्बुद्धमात्र रत्यादि रूप स्थायिभाव की अभिव्यक्ति का नाम ही भाव है ।[1] व्यभिचारी भाव की तीन अवस्था होती है- शान्ति, उदय, सन्धि । इनमें शान्ति की स्थिति को भावप्रशम या भावशान्ति कहते हैं । उदय की स्थिति को भावोदय तथा दो भावों के मिश्रण को भावसन्धि और दो से अधिक भावों के मिश्रण को भाव-शबलता कहते हैं[2] । भावों की ये सभी अवस्थायें आस्वादयोग्य होने से रसश्रेणी में आते हैं ।[3]

नाटक में सामाजिकों के मङ्गल के निमित्त दो पद्यों[4] में क्रमशः कृष्ण एवं राधा की स्तुति की गयी है । यहाँ पर देवादिविषयक रति भाव अभिव्यक्त हो रहा है ।

---

1. (क) सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
   उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।। साहित्य दर्पण-3/260-261.

   (ख) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
   भाव प्रोक्त............. ....।। काव्य प्रकाश- 4/35.

2. भावस्य शान्तावुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात् ।
   भावस्य शान्तिरूदयः सधिः शबलता मता ।।3/267. साहित्य दर्पण.

3. ....सर्वेऽपि रसनाद्रसाः । 3/260. वही.

4. जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
   यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
   स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
   ब्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ।। चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/15. तथा 16

नाटक में कलि से प्रभावित युग से व्यथित लोगों की रक्षा के लिये दो पद्य[1] में यतीन्द्र गौरचन्द्र अर्थात् चैतन्य प्रभु की भी स्तुति की गयी है । यहाँ पर मुनिविषयक रति भाव अभिव्यक्त हो रहा है । इसके अतिरिक्त कतिपय स्थलों पर माता-पुत्र इत्यादि आलम्बनों से सम्बद्ध वात्सल्य रतिभाव का उद्बोधन होता है ।

कहीं-कहीं पर व्यभिचारी भावों को रस की अपेक्षा स्वातन्त्र्येण अभिव्यक्ति होती है ।

प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार द्वारा कथित राजा की उक्ति है-

"सोऽयं नीलगिरीश्वरः स विभवो यात्रा च सा गुण्डिचा
ते ते दिग्विदिगागताः सुकृतिनस्तास्ता दिदृक्षार्तयः ।
आरामाश्च त एव नन्दनवनश्रीणां तिरस्कारिणः
सर्वाण्येव महाप्रभु बत विना शून्यानि मन्यामहे ।।[2]

यहाँ पर राजा की उक्ति मे "औत्सुक्य"[3] भाव की अभिव्यञ्जना हो रही है ।

द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में कलि से उपवेष्टित संसार को देखकर अपने बन्धु-बान्धवों के बारे में विराग का कथन है-

---

1. निधिषु कुमुदपद्मशङ्खमुख्येष्वरुचिकरो नवभक्तिचन्द्रकान्तैः ।
   विरचितकलिकोकशोकशङ्कुर्विषयतमांसि हिनस्तु गौरचन्द्रः ।। 1/1.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/2
3. औत्सुक्यं नाम- इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभिर्विभावैः
   समुत्पद्येत । नाट्य शास्त्र चौ. - पृ. - 413.

न शौचं नो सत्यं न च शमदमौ नापि नियमो
न शान्तिर्न क्षान्तिः शिव शिव न मैत्री न च दया ।
अहो मे निर्व्याजप्रणयिहृदोऽमी कलिजनैः
किमुन्मूलीभूता विदधति किमज्ञातवसितम् ।।[1]

यहाँ पर "वितर्क"[2] नामक भाव प्राधान्येन व्यञ्जित हो रहा है ।

इसी अङ्क में कुष्ठ रोग से पीड़ित एक ब्राह्मण का चैतन्य प्रभु से कथन है-

"यदि मम पामरस्य एष गदो गतः क्रियते तदा सत्यमेव त्वं भूमङ्गलरूप ईश्वरः सरोजनयनः स्वयमेव ।"[3]

यहाँ पर ब्राह्मण के कथन से स्पष्टतया "व्याधि"[4] भाव अभिव्यक्त हो रहा है ।

चतुर्थ अङ्क में श्रीवास-प्राङ्गण में नृत्य श्रम से श्रान्त गङ्गादास का कथन है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/9
   समुत्पद्यते । नाट्य शास्त्र चौ. - 2/1.
2. वितर्को नाम- सन्देहविमर्शविप्रतिपत्त्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
   नाट्य शास्त्र- पृ. - 428.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 63.
4. व्याधिर्नाम- वातपित्तकफसंनिपातप्रभवः ।
   नाट्य शास्त्र चौ. - पृ. - 421.

"अहो, याममात्रावशिष्टेयं त्रियामा । उचितमेव घूर्णते नयनयुगलम् । भगवत्या निद्रयाभिभूतोऽस्मि । तदत्रैव क्षणं निद्रामि ।[1]

यहाँ पर गंगादास के कथन से निद्रा[2] भाव प्रतीत हो रहा है ।

चैतन्य के अदृश्य होने के दो दिन बाद भी जब उनका पता नहीं चला तो चिन्तित होकर गदाधर कहता है-

गतो यामो यामावहह गतवन्तौ बत गता
अमी यामा हा धिग्दिनमपि गतप्रायमभवत् ।
क्रमादाशापाशस्त्रुटति बत हा सार्धमसुभि-
स्तथापि त्वद्वार्ता न हि गतवती श्रोत्रपदवीम् ।। 4/19.

यहाँ पर "चिन्ता"[3] नामक भाव व्यञ्जित हो रहा है ।

चैतन्य प्रभु के वियोग में हरिदास का कथन है-

"यदि नयनयोः पन्थानं मे न याति स ईश्वरो
यदि करुणया नो दृक्पातं करोति स मद्विधे ।
कुलिशकठिनानां वो सूनां सहस्रमपि क्षणा-
त्तृणमिव परित्यक्ष्याम्यञ्जस्तदङ्घ्रिमरीप्सया ।।" 4/28.

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 136
2. निद्रा नाम- दौर्बल्यश्रमक्लममदालस्य चिन्ताऽत्याहारस्वभावादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । नाट्य शास्त्र- 414.
3. चिन्ता नाम- ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारदारिद्र्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । नाट्य शास्त्र- पृ. - 401.

यहाँ पर "आवेग"[1] नामक भाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

भावशान्ति-

अष्टमाङ्क में चैतन्य महाप्रभु के ब्रह्मानन्द भारती के समीप चले जाने पर पुनः उनके शीघ्रागमन पर सन्देह उत्पन्न होने पर गोपीनाथ आचार्य का कथन है-

"गोपीनाथाचार्यः-सम्प्रति द्वैराज्यादिकमपि नास्ति । पन्थाश्च सुगमः । गुण्डिचायात्रा च नेदीयसी । त्रदागमनसामग्री सर्वैवास्ति । किं स्वामिना प्रत्यागमनवार्ता तावद्दूरगामिनी चेदवति । अथवा कृत संदेहेन ।" पृ. - 274.

यहाँ पर "अथवा कृतं संदेहेन" से शङ्का भाव की शान्ति दिखायी गयी है ।

भावसन्धि-

द्वितीयाङ्क के प्रारम्भ में कलि से प्रभावित युग को देखकर अपने बान्धवों के विषय में चित्रित विराग का कथन है-

षष्ठे कर्मणि केवलं कृतधियः सूत्रैकचिह्ना द्विजाः
संज्ञामात्रविशेषिता भुजभुवो वैश्यास्तु कौद्रा इव ।
शूद्राः पण्डितमानिनो गरूतया धर्मोपदेशोत्सुकाः
वर्णानां गतिरीदृगेव कलिना हा हन्त संपादिता ।। 2/2.

यहाँ "ग्लानि" तथा "दैन्य" नामक भाव अभिव्यक्त हो रहे हैं ।

---

1. आवेगो नाम- उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमणप्रियाप्रियश्रवणव्यसनाभिघातादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । नाट्य शास्त्र- पृ. - 408.

षष्ठ-अध्याय

षष्ठ-अध्याय

अलङ्कार-सौन्दर्य

कवि प्रतिभा से समुद्भूत उक्तियों के अलोकसिद्ध सौन्दर्य को कुछ आचार्यों ने व्यापक अर्थ में अलङ्कार कहा है[1]। अलङ्कार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। दोनों ही अर्थ अलङ्कार शब्द की अलग-अलग व्युत्पत्तियों से उपलब्ध होता है। भाव व्युत्पत्ति से अलङ्कार का अर्थ "अलंकृति" अर्थात् आभूषण या शोभा है[2]। लोक में हम उन कटककुण्डलादि आभूषणों को जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, अलङ्कार कहते है। ठीक इसी प्रकार काव्य के उन उपकरणों को जो कविता-कामिनी की श्रीवृद्धि करते हैं, अलङ्कार कहा जाता है[3]। करण व्युत्पत्ति से अलङ्कार का अर्थ होता है-- वह तत्त्व जो काव्य को अलंकृत अर्थात् सुन्दर बनाने का साधन है[4]। रस एवं ध्वनिवादी आचार्यों के मत में अलंकार्य ﴾ रस तत्त्व ﴿ का जो अलंकरण करे वही अलङ्कार है[5]।

इस प्रकार "अलङ्करोत्यलङ्कारः" अथवा "अलङ्कृयतेऽनेनेत्यलंकारः अथवा अलङ्करणमलङ्कारः अलङ्कार की प्रचलित इन तीनों व्युत्पत्तियों में से किसी को भी मानने पर अन्त में यही निर्गलितार्थ निकलता है कि काव्य में शोभाधायक तत्त्व "अलङ्कार" कहलाता है। इस प्रकार अलङ्कार प्रधानभूत अलंकार्य अथवा धर्मी रस का शोभा धायक होने के कारण काव्य का गौण-तत्त्व है। जिस प्रकार लोक में लावण्यवती लल-

---

1. सौन्दर्यमलंकारः काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 1/1/2.
2. अलङ्कृतिरलङ्कारः वही, वृत्तिभाग, पृ. - 5.
3. काव्यशोभाकारान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श- 2.1
4. करणव्युत्पत्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते। काव्य-सूत्र वृत्ति.
5. ﴾क﴿ अंगाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ ध्वन्यालोक- 2.6

   ﴾ख﴿ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ काव्य प्रकाश- 8.67.

कटकादि भूषणों से हीन होने पर भी सहृदयो के चित्त को आकृष्ट करने में समर्थ होती है । उसी प्रकार अनुप्रासोपमादि अलङ्कारों से रहित होने पर भी श्रृंगारादि रसों से युक्त काव्य सामाजिकों को आनन्दित करने वाला होता है[1] । परन्तु काव्यात्मभूत रस के अभाव में प्रयुक्त अलङ्कार काव्य में मृतयुवती के अंगो पर प्रयुक्त कटकादि के तुल्य निरर्थक प्रतीत होते हैं[2] । काव्य में प्रयुक्त ऐसे अलङ्कार वैरस्य के हेतु होते हैं[3] । काव्यप्रकाशकार ने अलङ्कारों के स्वरूप तथा काव्य में उसके स्थान का निरूपण करते हुये कहा है कि काव्य के वे धर्म जो काव्य के शरीरभूत शब्द एव अर्थ को अलङ्कृत कर उसके माध्यम से काव्यात्मभूत रस का भी कदाचित् उपकार करे, अलङ्कार कहलाता है[4] । आचार्य मम्मट ने काव्य में अलङ्कारों की त्रिधा स्थिति का निरूपण किया है- प्रथम प्रकार की स्थिति में अलङ्कार अंगीरस के अंगभूत वाच्य एवं वाचक के अलङ्करण के माध्यम से अन्ततः रस का उपकार करते हैं[5] । दूसरी स्थिति में विद्यमान होने पर भी रस का उपकार नहीं करते[6] । तीसरी स्थिति में रस के अभाव में भी उसकी सत्ता रहती है ।[7]

---

1. क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । काव्य प्रकाश- पृ. -1।
2. तथाहि--अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात् ।
   ध्वन्यालोक, लो. पृ. -419
3. श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिष्यन्दकर्कशाः ।
   दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनोगिरः ।। नाट्य दर्पण- 1.7
4. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। काव्य प्रकाश- 8/67.
5. ये वाचक-वाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भाविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः । काव्य प्रकाश- पृ. - 409.
6. क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति । काव्य प्रकाश- पृ. - 409
7. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ।काव्य प्रकाश-

आचार्य आनन्दवर्धन ने इनमें से प्रथम प्रकार की स्थिति को सर्वोत्कृष्ट माना है, क्योंकि इसी दशा में अलङ्कारों की अलङ्कारता है[1]। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के मत का अनुकरण करते हुये अलङ्कार को काव्य (शब्दार्थ) का अस्थिर शोभातिशायी धर्म कहा है। जो अंगद आदि अलङ्कारों की भाँति शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और रस-भाव के अभिव्यंजन में सहायक हुआ करते हैं[2]। ध्वनिवादी आलङ्कारिक भी अलंकारों को काव्य के अस्थिर-धर्म के रूप में मानते हैं[3]। रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी रस-भाव आदि का उपकार करने में ही अलङ्कार-योजना की सार्थकता मानी है[4]। इन कथनों से यह तात्पर्य निकलता है कि-यह ठीक है कि सभी अलङ्कार नियत रूप से सदा रस-भाव आदि का उपकार नहीं करते। वे कहीं तटस्थ रह जाते हैं तो कहीं रस-भाव आदि के बाधक भी बन जाते हैं। परन्तु काव्य में रस-भाव आदि के उपस्कारक अलङ्कार ही ग्राह्य हैं वे ही सच्चे अर्थों में काव्य के अलङ्कार है। आचार्य भामह ने काव्य के अलङ्कारों को नारी के आभूषण की भाँति मानकर कहा है कि जैसे रमणी का सुन्दर मुख भी भूषण के अभाव में सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलङ्कार-हीन काव्य भी सुशोभित नहीं होता है[5]। इनके अनुसार उक्ति का वैचित्र्य उक्ति अंगी का लोकोत्तर चमत्कार ही अलङ्कार है। अनलङ्कृत भी प्रकृत उक्ति वार्ता मात्र

---

1. रसभावदितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
   अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक- पृ. - 88.
2. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गादिवत्॥ साहित्य दर्पण- 10/1
3. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥ निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक- 2/19-19.
4. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्------। ध्वन्यालोक-पृ. -88.
5. न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्। काव्यालङ्कार- 1/13.

होती है । काव्य नहीं[1] । आचार्य दण्डी ने अलङ्कार को काव्यसौन्दर्य का हेतु कहा है[2] । वामन ने अलङ्कार को काव्यसौन्दर्य का पर्याय मानकर काव्य को अलङ्कार के सद्भाव से ही ग्राह्य कहा है ।[3]

प्रस्तुत नाटक के रचनाकार कवि कर्णपूर ध्वनिवादी विचारधारा के समर्थक प्रतीत होते हैं । उन्होंने भी रस को काव्य की आत्मा एवं अलङ्कार को उसके अलङ्करण के रूप में स्वीकार किया है[4] । उन्होंने अपने अलङ्कार कौस्तुभ में अलङ्कारों का विवेचन भी प्रमुख रसध्वनिवादी आचार्य मम्मट के अनुसार किया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन का निर्गलितार्थ यह हुआ कि काव्य में चाहे रसाभिव्यक्ति का स्थल हो या प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण हो अलङ्कार कवि का साध्य नहीं बनना चाहिये । यदि आत्मभूत रस के परिपोष के लिये अलङ्कार की योजना की जाये तो अलङ्कार वास्तव में चारूत्व-हेतु बन जाते हैं ।[5]

---

1. गतो स्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
   इत्येवमादि किं काव्य वार्तामिनां प्रचक्षते ।। काव्यालङ्कार- 2/87.

2. काव्यादर्श- 2/1.

3. काव्यालङ्कार- 1/1/1.

4. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसैव आत्मा किल् रसो ।
   गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृतिगणाः ।
   सुसंथानं रीतिःस किल परमः काव्यपुरूषो ।।
   कवि-कर्णपूर, अलङ्कार कौस्तुभ- 1/1.

5. ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
   रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ।। ध्वन्यालोक- 2/17.

शब्दालङ्कार-

ऊपर हम यह बता चुके हैं कि अलङ्कार काव्य के शरीरभूत "शब्द और अर्थ" के उपस्कारक धर्म हैं । फलत: अलङ्कारों का विभाजन तीन कोटियों में किया गया है--शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालंकार । जो शब्द पर आश्रित है और शब्दपरिवृत्यसहत्व है अर्थात् शब्द का परिवर्तन हो जाने पर या किसी शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर जहाँ अलङ्कार नहीं रहता, वे शब्दालङ्कार कहलाते हैं । किन्तु जो अर्थ पर आश्रित है और शब्दपरिवृत्तिसहत्व हैं, वे अर्थालङ्कार कहलाते हैं । जो अलङ्कार शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित हैं वे उभयालङ्कार कहलाते हैं । अलङ्कार-प्रयोग के औचित्य के सन्दर्भ में जैसा पहले कहा जा चुका है रसाभिव्यक्ति और अलङ्कारों की सृष्टि दोनों कवि के एक ही प्रयास से सिद्ध होनी चाहिये, तभी वह अलङ्कार मुख्य रूप से रसाङ्ग होता है । किन्तु यमकादि अलङ्कारों में शब्द परिवृत्यसहत्व होने के कारण कवि अपनी रसबन्धनाध्यवसायवासना का अतिक्रमण करके अलङ्कार निष्पादनार्थ शब्दों के व्यामोह में फंस जाता है[1]। अतएव यमकादि अलङ्कार अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व लक्षण से हीन होने के कारण रसांगभूत नहीं होते हैं । जहाँ कहीं कोई-कोई यमकादि अलङ्कार रससहित दिखलायी देते हैं । वहाँ यमकादि ही अंगी है, रसादि उनके अंग है । रसाभास में यमकादि को अंग रूप मानने में भी कोई विरोध नहीं है परन्तु जहाँ रस प्रधानतया व्यङ्ग्य हो, वहाँ तो पृथक्-प्रयत्न साध्य होने से यमकादि अगं नही हो सकते[2]। कवि कर्णपूर ने अपने नाटक में यमक अलङ्कार का प्रयोग नहीं किया है ।

वक्रोक्ति-

वक्ता द्वारा किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य यदि अन्य व्यक्ति (श्रोता) के द्वारा श्लेष या काकु रूप ध्वनि विकार के हेतु से अन्य अर्थ में कल्पित कर लियाजाता

---

1. यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वक क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूप: । ध्वन्यालोक- पृ. - 106.

2. यत्त रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनान्त्वंगितैव । रसाभासे चांगित्वमप्यविरुद्धम् । अंगितया तु व्यंग्ये रसे नांगत्व पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद् यमकादे: । ध्वन्यालोक-पृ. 107.

है तो वह "वक्रोक्ति" नामक अलङ्कार कहलाता है । यह दो प्रकार का होता है- श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति ।[1] चैतन्यचन्द्रोदयम् के तृतीय अंक (गर्भांक) में पुष्पचयन करती हुयी राधा की सखी ललिता का श्रीकृष्ण से कथन है-

> कस्त्वं भो ननु माधवः कथमहो वैशाख आकारवान्
> मुग्धे विद्धि जनार्दनोऽस्मि तदिदं ब्रूते वनावस्थितिः ।
> मां गोवर्धनधारिणं न धरणौ को वेत्ति हु वर्धनं
> हिंसा हे वृषहन्विभर्षि तदघद्वारैवगोवर्धनम् ।।[2]

यहाँ पर माधवः इत्यादि पद्य में एक ने (श्रीकृष्ण ने) माधव शब्द "श्रीकृष्ण" अर्थ में कहा था, दूसरे ने "आकारधारी वैशाख" (वैशाख महीना) यह अर्थ कल्पित किया। इसी प्रकार "जनार्दन" को वक्ता ने (जनम् अर्दयति-जनार्दनः) कृष्ण अर्थ में कहा । तब दूसरे ने "जनों का मर्दन करने वाला" इस अर्थ में ग्रहण किया । फिर वक्ता ने "गोवर्द्धन पर्वत धारण करने वाला" इस अर्थ में प्रयुक्त किया तो दूसरे ने उसे "गो (गाय) का वर्द्धन (हनन) करने वाला" इस अर्थ में कल्पित कर लिया ।

इस प्रकार "माधवः" "जनार्दन" और "गोवर्धनधारिणा" आदि पदों का वक्तृ-अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ श्रोता द्वारा ग्रहण किया गया है और इस भिन्नार्थकता के मूल में श्लेष है । अतः यहाँ पर श्लेष वक्रोक्ति है ।

चैतन्यचन्द्रोदयम् के सप्तम अंक में महाप्रभाव परमदयालु चैतन्य-प्रभु के गौड़ देश से दक्षिण दिशा की ओर चले जाने पर दुःखी राजा से भट्टाचार्य का कथन है-

---

1. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
   श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।। काव्यप्रकाश-9/103.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/55.

कति न विहितं स्तोत्रं काकुः कतीह न कल्पिता
कति न रचितं प्राणत्यागादिकं भयदर्शनम् ।
कति न रुदितं धृत्वा पादौ तथापि स जग्मिवान्
प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ ।।[1]

यहाँ पर भट्टाचार्य ने "कितना अधिक" इस अभिप्राय से "कति" शब्द का प्रयोग किया है । किन्तु काकु नामक ध्वनि विकार के साथ इसका उच्चारण करके "कति न" कितना नहीं अर्थात् अत्यधिक यह अभिप्राय प्रकट किया गया है । अतः यहाँ "काकु वक्रोक्ति" नामक "वक्रोक्ति अलङ्कार" है ।

अनुप्रास-

वर्णसाम्य अर्थात् स्वरों के असमान होने पर भी व्यजनों की समानता । रस, भाव आदि के अनुकूल व्यंजनों की बहुत व्यवधान से रहित चमत्कार जनक प्रकृष्ट योजना (आवृत्ति) ही अनुप्रास अलङ्कार कहलाता है[2] । यह दो प्रकार होता है-- वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास[3] ।

वर्णानुप्रास-

चैतन्यचन्द्रोदयम् के तृतीय अंक में प्रेमभक्ति मैत्री को प्रेम के विषय में बताती है-

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसञ्ज्ञकः ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 7/2.
2. स्वरवैसादृश्येपि व्यंजनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो-न्यासोऽनुप्रासः । काव्य प्रकाश- पृ. - 435.
3. काव्य प्रकाश- पृ. - 435.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/8,35.

यहाँ "रसाश्च-भावाश्च" में "श्" तथा "च" का और "उन्मज्जन्ति-निमज्जन्ति" में "ज्" और "ज" एवं "न्" और "त" का अर्थात अनेक व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य है अत· इसमें वर्णानुप्रास का छेकानुप्रास[1] नामक प्रथम भेद है ।

तृतीय अंक में श्रीकृष्ण राधा को (पुष्पावचय के लिए आयी हुई) देखकर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सोचते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने माधुर्य-व्यंजक पदावलि का प्रयोग किया है, जहाँ पर अनुप्रास की छटा दर्शनीय है-

उत्कीर्णा किमु चारू कारूपतिना कामेन किं चित्रिता
प्रेम्णा चित्रकरेण किं लवणिमा त्वष्ट्रैव कुन्दे धृता ।
सौन्दर्याम्बुधिमन्थमात्तिकमुदिता माधुर्यलक्ष्मीरियं
वैचित्र्यं जनयत्यहो अहरहर्दृष्टाप्यदृष्टेव मे ।।[2]

यहाँ पर प्रत्येक चरण मे श्रृंगार रस के अनुकूल माधुर्य-व्यंजक वर्णों की आवृत्ति से जनित वृत्यनुप्रास[3] नामक द्वितीय भेद रस का परिपोष कर रहा है ।

कहीं कहीं पर रस के अभाव में प्रयुक्त अनुप्रास वस्तुवर्णनादि प्रसंगों में वाच्यार्थ को चमत्कृत करते हुये देखे जाते हैं । प्रथमांक में चैतन्य-प्रभु के गुणों का वर्णन करते हुये कलि का कथन है--

---

1. (क) छेकवृत्तिगत द्विधा । काव्य-प्रकाश- 9/105.
(ख) अनेकस्य अर्थाद् व्यंजनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः । काव्य-प्रकाश-पृ. 436.

2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/46.

3. एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्यनुप्रासः। काव्य-प्रकाश-पृ. 436.

शिवशिव शिशुतायामेव गाम्भीर्यधैर्य-
स्मृतिमतिरतिविद्यामाधुरीस्निग्धतायाः ।
निखिलजनविशेषाकर्षिणो ये गुणास्तै-
रिह न विदधतां के विष्णुरित्येव बुद्धिम् ।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर अनुप्रास अलङ्कार गुणों के वर्णन में चारुता उत्पन्न कर रहा है ।

शब्दानुप्रास-

समान शब्दार्थ होने पर केवल तात्पर्य मात्र का भेद शब्दानुप्रास कहलाता है[2]। चैतन्यचन्द्रोदयम् के द्वितीय अंक में चैतन्य-प्रभु श्रीवास को अद्वैत के अभिनिवेश के बारे में बताते हैं--

ध्यानाभ्यासकृता स्फूर्तिः स्फूर्तिः सा तु चिराद्भवेत् ।
याडकस्मिकी हृदि हरेः सावतार इवापरः ।।[3]

यहाँ "स्फूर्ति" पद की आवृत्ति है । दोनों जगह वाच्यार्थ समान है, किन्तु प्रथम "स्फूर्ति" पद उद्देश्य रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा द्वितीय "स्फूर्ति" पद विधेय रूप में यही तात्पर्य भेद है ।

श्लेष-

अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुये श्लिष्ट ≬एकरूप≬ प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार कहलाता है[4]। प्रथम अंक में बीजरूप में सूत्रधार का कथन है--

कृष्णपक्षेऽनुदिवसं क्षयमाप्नोति यः सदा ।
दोषाकरो बाधतां किं स वै विष्णुपदाश्रितान् ।।[1]

यहाँ पर "कृष्णपक्ष" और "दोषाकर" पद श्लिष्ट है जिसमें दो अर्थ है । "कृष्णपक्ष" का प्रथम अर्थ श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अभिप्रेत है और द्वितीय अर्थ मासिक-पक्ष कृष्ण-पक्ष के अर्थ में । इसी प्रकार "दोषाकर" शब्द से भी प्रथममतः दोषों का आकर कलि अर्थ का ग्रहण किया गया है और दूसरा चन्द्रमा का अर्थ ।

अर्थालङ्कार-

शब्दालङ्कारों में शब्द परिवृत्य सहत्व होने के कारण कवि को शब्दो के बन्धन में रहना पड़ता है, किन्तु अर्थालङ्कारों में कवि रसानुकूल अलङ्कार के प्रयोग के लिये शब्दों के व्यामोह में नहीं फंसता । आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि ध्वनि के आत्मभूत श्रृंगार में सोच-समझकर प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलङ्कार अन्वर्थनामा हो जाते हैं ।[2]

उपमा-[3]

अर्थालङ्कारो में उपमा का प्रयोग प्रायः समस्त कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है । अतः उपमा सर्वाधिक प्रिय अर्थालङ्कार माना गया है । इसका कारण है "उपमा" का अनेकानेक अर्थालङ्कारों में मूलभूत से होना और काव्य-सौन्दर्य में विशेष रूप से सहायक होना । इसी हेतु सर्वप्रथम उपमा का ही निरूपण किया गया है । आचार्य वामन आदि ने तो साधर्म्यमूलक अलङ्कारों को उपमा का प्रपंच मात्र ही बतलाया है ।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/9.
2. ध्वन्यात्मभूते श्रृंगार समीक्ष्य विनिवेशितः ।
   रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यर्थार्थताम् ।। ध्वन्यालोक- 2. 17.
3. साधर्म्यमुपमा भेदे । काव्य प्रकाश- 10. 87.
4. प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपंचः ---------। का. सू. वृ. - 4. 3. 1.

आचार्य रूय्यक ने इसीलिये कहा है--"उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता"।[1] "उपमा" की साधना कवि समदृष्टि साधना है और इस साधना में जिसकी सिद्धि होती है वह है "सौन्दर्य"[2]। अप्पयदीक्षित ने अपनी चित्र-मीमांसा में यहाँ तक कहा है कि "उपमा वह नर्तकी है जो नाना प्रकार की अलङ्कार भूमिका में काव्य-मंच पर अवतीर्ण होकर काव्य-रसज्ञों को आह्लादित करती रहती है ।[3]

चैतन्यचन्द्रोदयम् के पंचम अंक मे चैतन्य-महाप्रभु के अदृश्य-गमन के बाद पुनः उन्हें अद्वैतपुर पहुँचाकर तथा सद्यः स्नाता देखकर नित्यानन्द का कथन है--

अम्भः स्यन्दैः स्तिमितवपुषं लज्जयाभ्यासहानेः
कौपीनाच्छादनमपि न निर्गाल्य निःसारिताम्बुम्
देवं रक्ताम्बुजदलचयैरछाद्यमानोन्तमाङ्गं
स्नानोत्तीर्णं करिवरमिव स्वर्णगौर निरीक्षे ।।[4]

यहाँ पर प्रयुक्त उपमा संन्यास-ग्रहण की अनुभूति कराती हुयी भक्तिरस का पोषण कर रही है ।

पंचमांक में ही चैतन्य-महाप्रभु के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित भीड़ को रोकते हुये द्वारपाल का कथन है ।

---

1. काव्यप्रकाश- डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ. - 336.
2. काव्यप्रकाश- पृ. - 336.
3. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
   रंजयतिकाव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।। चित्रमीमांसा-पृ. -41, 1965 ई.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/12.

अये, कृतभिक्ष एव भगवान् । यदयम्--

श्रीखण्डपंकपरिलिप्ततनुर्नवीन-

शोणाम्बरो धवलमाल्यविराजिवक्षा: ।

हेमद्युतिर्विजयते हिमसान्ध्यराग-

गंगाप्रवाहरुचिभागिव रत्नसानु: ।। [1]

यहाँ पर द्वारपाल द्वारा बरफ, सान्ध्यराग तथा गंगाप्रवाह से रुचिर सुमेरु पर्वत से प्रदत्त उपमा उनके धीरललित्व को उभारने में सहायक सिद्ध हो रही है ।

उत्प्रेक्षा-

प्रकृत अर्थात् वर्णनीय वस्तु की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना करना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है [2] । षष्ठ अंक में भगवान् जगन्नाथ के देवकुल को देखकर मुकुन्द का चैतन्य-प्रभु से कथन है--

उत्क्षिप्त: किमयं भुवा दिनमणेराकर्षणार्थं भुज:

पातालात्किमु सत्यलोकमयितुं शेष: समभ्युत्थित: ।

किंवा नागफणामणीन्द्रमहसां शशिर्जिहानो दिवं

दिव्यदेवकुलं प्रभोरिदमिदं भो देव विद्योतते ।। [3]

यहाँ पर जगन्नाथ के देवकुल (मंदिर) की ऊँचाई को देखकर कवि ने उसमे पृथ्वी के द्वारा ऊपर उठाये गये हाथों की संभावना व्यक्त की है । अर्थात् देवकुल ऐसा प्रतीत होता है मानो पृथ्वी ने सूर्य को अपनी ओर खींचने के लिये अपना हाथ ऊपर की

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/20.

2. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् । काव्य प्रकाश- 20/137.

3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/15.

ओर बढ़ाया हो, अथवा शेषनाग पाताल से सत्यलोक की ओर बढ़ रहा हो, या नागफणामणिकान्तिसमुदाय स्वर्ग की ओर जा रहा हो । प्रस्तुत उत्प्रेक्षा रस के अनुकूल है । पृथ्वी, शेषनाग और नागफणामणि की सत्यलोक और स्वर्गलोक के प्रति की गई कल्पना भक्ति रस में मुकुन्द के प्रेम को उद्दीप्त करती है ।

षष्ठ अंक में ही भगवान् जगन्नाथ की शयनोत्थान लीला को देखकर गोपीनाथ आचार्य का कथन है--

तत्कालीनकवाटवाटनिबिडोद्घाटे विनिष्क्रामता
गर्भागारगरिष्ठसौरभभरेणामोदमभ्युद्गमन् ।
निद्राभंगभूतालसो मुखमिव व्यादाय शेषोनिशो
जृम्भारम्भमिवातनोति स इमं प्रासाद एष प्रभो: ।।[1]

यहाँ पर प्रात: काल होने पर कपाटों के खुलने से गर्भागार से भगवान् प्रासाद की जो सुगन्ध निकलने लगती है उसकी सम्भावना रात्रि व्यतीत हो जाने पर सद्य: टूटी हुयी नींद से अलसाये, मुँह खोलकर जंभाई लेते जगन्नाथ प्रभु के प्रासाद से की गयी है । प्रस्तुत उत्प्रेक्षा से भक्ति रस उद्दीप्त हो रहा है ।

इसी अंक में मन्दिर के मध्यभाग में प्रज्वलित दीपक को देखकर मुकुन्द का कथन है--

क्षणात्प्रदीपावलय: समन्ताद्गम्भीरिकाया: कुहरे ज्वलन्त्य: ।
विलोचनोत्सारिभरस्तपूरैर्न्यग्भूतभासो लिखिता इवासन् ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/27.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/29.

यहाँ पर जगन्नाथ मंदिर के मध्यभाग में प्रज्वलित दीप की कान्ति भगवान् की आँखों से प्रवाहित अश्रु से परास्त हो जाने के कारण चित्रलिखित सी प्रतीत हो रही है । भगवान् के प्रति अनुरक्त मुकुन्द द्वारा प्रयुक्त प्रस्तुत उत्प्रेक्षा उनके भावितभाव को व्यक्त करती हुयी भक्ति रस का उपस्कार करती है ।

ससन्देह-

जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय का उपमान के साथ संशयात्मक ज्ञान होता है वह ससन्देह अलङ्कार कहलाता है[1]। चतुर्थ अंक में श्रीवास के प्रांगण में नृत्य करते हुये चैतन्य-प्रभु को देखकर गंगादास का कथन है-

आनन्दः किमु मूर्त एष परमः प्रेमैव किं देहवान्
श्रद्धा मूर्तिमती दयैव किमु वा भूमौ स्वरूपिण्यसौ ।
माधुर्यं नु शरीरि किं नवविधा भक्तिर्गतैका तनुं
तुल्यावेशसुखोत्सवो भगवता बक्रेश्वरो नृत्यति ।।[2]

यहाँ पर नायक (चैतन्य) में होने वाले शुद्ध सन्देहालङ्कार[3] से चैतन्य-प्रभु के प्रति अभिव्यक्त होने वाला गंगादासाश्रित भक्तिभाव उद्दीप्त हो रहा है ।

षष्ठ अंक में भगवान् जगन्नाथ के समक्ष चैतन्य-महाप्रभु के खड़े होने पर नेपथ्य से कथन है--

---

1. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः । काव्यप्रकाश- 10/92.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/7.
3. यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः । साहित्य दर्पण- 728. पृ.

अन्योन्येक्षणरागरञ्जिततया द्वौ निर्निमिषेक्षणौ
राजेते जगतःपती उभयतो निस्पन्दसर्वांगकौ ।
दारूब्रह्मणि लीयते किमु नरब्रह्मैतदाहो नर-
ब्रह्मण्येव हि लीयते शिव शिव ब्रह्मैय वा दारवम् ।।[1]

यहाँ दारूब्रह्म एवं नरब्रह्म में प्रयुक्त सन्देह अलङ्कार चैतन्य-प्रभु की महानता को बता रहा है । अतः यहाँ पर प्रस्तुत अलङ्कार से भक्तिरस ही उपस्कृत हो रहा है ।

रूपक-

उपमान तथा उपमेय का अभेदारोप रूपक अलङ्कार कहलाता है[2] । "रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् "। पंचम अंक में चैतन्य-प्रभु के अदृश्य गमन के बाद पुनः नवद्वीप आगमन पर समस्त प्रसन्न नवद्वीप वासियों का कथन है--

अद्यान्ध्यं गतमेव ना नयनयोरद्य प्रसन्ना दिशः
शुष्काश्चाद्या जिजीविषाव्रततयः प्रोन्मीलयन्त्यंकुरान्
नष्टेऽन्तःकरणे च केनचिदहो चैतन्यमप्याहितं
येनास्माकमहो बताद्य भविता चैतन्यचन्द्रोदयः ।।[3]

यहाँ पर "जिजीविषा और व्रततयः" में एवं "चैतन्य और चन्द्र" में अभेद स्थापित किया गया है । प्रस्तुत रूपक से चैतन्य-महाप्रभु के प्रति नवद्वीपवासियों का अनुराग (स्नेह) उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/24.
2. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । काव्यप्रकाश- 10/93.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/25.

चतुर्थांक में श्रीवास के प्रांगण में आयोजित कृष्ण-संकीर्त्तन के अवसर पर भगवान् विश्वंभर[1] को नृत्य मे प्रवृत्त होता देखकर गंगादास का कथन है-

गभीरैर्हुंकारैर्निजजनगणान्बर्हिणयति
द्रुतैर्बाष्पाम्भोभिर्भुवनमनिशं दुर्दिनयति ।
महः पूरैर्विद्युद्वलययति दिक्षु प्रमदय-
न्नसौ विश्वं विश्वंभरजलधरो नृत्यति पुरः ।।[2]

यहाँ पर केवल विश्वंभर में आरोपित किया गया जलधर शब्द प्रतिपाद्य होने के कारण "एकदेशविवर्ती सांगरूपक"[3] अलङ्कार है ।

चतुर्थांक में ही नृत्य में तत्पर चैतन्य को देखकर गंगादास का पुनः कथन है-

दिशिविदिशा दृशा सरोजमालां
नयनजलेन मधूनि तत्र तन्वन् ।
मधुकरनिकरं भ्रुवा च चक्र-
भ्रमिनटने जयतीह गौरचन्द्रः ।।[4]

यहाँ कवि ने अपने प्रधान वर्ण्य विषय "गौरचन्द्र" का आरोप्यमाण पदार्थ "नयनजलेन" से तादात्म्यारोप स्थापित किया है न कि इससे संबद्ध अंगो का । अतः यहाँ निरंग रूपकालङ्कार है[5] । इसके अतिरिक्त कवि कर्णपूर के नाटक में रूपक अलङ्कार

---

1. विश्वंभर चैतन्य महाप्रभु का ही नाम है- चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/9
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/9.
3. श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् । काव्य प्रकाश- 10/94.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/10.
5. निरंगं केवलस्यैव रूपणं------------। साहित्य दर्पण- 10/32.

अलङ्कारान्तर के साथ प्रयुक्त हुआ है अतः उनका निरूपण संकरालङ्कारों के प्रसंग में आगे किया जायेगा ।

अपह्नुति-

प्रकृत अर्थात्वर्णनीय उपमेय का निषेध करके अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि करने पर अपह्नुति अलङ्कार होता है[1]। चतुर्थांक में अस्ताचल की ओर जाते हुये सूर्य को देखकर अद्वैत का कथन है--

नाम्नैव मे त्वमसि किंत्वखिलग्रहाणां
विश्रामपात्रमिति तत्पतिनाभिशस्ता ।
तत्प्रत्ययाय परितप्तमयो दधाति
संध्यार्कबिम्बकपटादिव वारुणी दिक् ।।[2]

यहाँ पर "कपटादिव" शब्द से उपमेयभूत सूर्य-बिम्ब का उपमानभूत अयोगोलक में अपह्नव किया गया है । प्रस्तुत अपह्नुति रतिभाव का पोषण कर रही है ।

निदर्शना-

जहाँ पदार्थों या वाक्यार्थों का अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा की कल्पना कर लेता है तो वह निदर्शना अलङ्कार कहलाता है[3]। षष्ठ अंक में चैतन्य-प्रभु के कार्यों से विस्मृत दामोदर का कथन है--

---

1. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः । काव्य प्रकाश- 10/146.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/3.
3. अभवन् वस्तुसम्बन्धः उपमापरिकल्पकः । 10/97. काव्य प्रकाश,

विना वारी बद्धो वनमदकरीन्द्रो भगवता
विना सेकं स्वेषां शामित इव हृत्तापदहनः ।
यदृच्छायोगेन व्यरचि यदिद पण्डितपतेः
कठोर वज्रादप्यमृतमिव चेतोऽस्य सरसम् ।।[1]

यहाँ पर कवि ने एक उपमेय के लिये दो उपमानो का प्रयोग किया है । अतः स्पष्ट है कि बिना गजबन्धन के वन्यमत्त करिराज को बाँधना और इच्छा मात्र से ही पंडित महोदय के बज्र से भी कठोर हृदय को अमृत की तरह सरस बना देना परस्पर अनुपपन्न प्रतीत होते है । तथा बिना जलसेक के ही आत्मीयों के हृदयों के ताप को शान्त करना और इच्छा मात्र से ही पंडित महोदय के बज्र सदृश कठोर हृदय को अमृत की तरह सरस बना देना भी परस्पर अनुपपन्न प्रतीत होत है, किन्तु अन्ततोगत्वा उपमा की कल्पना से इनमें "बिम्बप्रतिबिम्बभाव" का दर्शन हो जाता है जिससे वाक्यार्थों का असंगत प्रतीत होता वस्तु का सम्बन्ध सगंत लगने लगता है । अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

अतिशयोक्ति-

अतिशयोक्ति का अर्थ है--"अतिशयिता प्रसिद्धम् अतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः ।" जहाँ पर अर्थात् उपमान के द्वारा "प्रकृत" अर्थात् उपमेय का निगरण करके उसके साथ कल्पित अभेद का निश्चय किया जाता है, वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/31.
2. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।। काव्यप्रकाश- 10/153.

तृतीय अंक के गर्भांक में राधा की भूमिका वहन करने वाले चैतन्य से श्रीकृष्ण का कथन है--

एतत्स्वर्णसरोरूहं तदुपरि श्रीनीलरत्नोपले
तत्पश्चात्कुरुविन्दकन्दलपुटे तत्रापि मुक्तावली ।
सर्वं दृश्यत एव किंतु निभृता या हेमकुम्भद्वयी
किं वान्यन्नयसेऽनयेति तदिदं बाले विचार्यं मम ।।[1]

यहाँ पर चैतन्य-प्रभु एवं राधा में स्पष्ट भेद होने पर भी अभेद का वर्णन किया गया है, अतः भेद मे अभेद रूप अतिशयोक्ति है ।

प्रतिवस्तूपमा-

सादृश्य की अभिव्यंजना से भरे दो वाक्यार्थों में, पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा एक साधारण धर्म का निर्देश माना जाता है, वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार कहलाता है ।[2]

चतुर्थ अंक में श्रीवास के प्रांगण में कीर्त्तन आयोजन के पश्चात् चैतन्य-महाप्रभु के अदृश्य गमन से दुःखी अद्वैत का कथन है--

इह ग्रामे को वा स्थगयतु तमात्मप्रकटनं
स किं वा स्वात्मानं स्थगयितुमवीशः प्रभवतु ।
अपह्नोतुं शक्यो न भवति जनैश्चण्डकिरणः
कथंकारं व्योम्नि स्वमपि सद्दिने व्यन्तरयतु ।।[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/54.
2. प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
   एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्रनिर्दिश्यते पृथक् ।।साहित्य दर्पण-10/49.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/16.

यहाँ पर "कथितपदता" रूप दोष के निवारण के लिये एक ही "छिपना" का धर्म स्थगयतु, अपह्नोतु, व्यन्तरयतु आदि भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः स्पष्ट रूप से प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है ।

दृष्टान्त-

दृष्टान्त वह अलङ्कार है जिसे समान धर्म से युक्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थों को बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की झलक कहा जाता है ।[1]

द्वितीय अंक में चैतन्य-महाप्रभु के महात्म्य का वर्णन करती हुयी भक्तिदेवी का विराग से कथन है-

अलौकिकीतोऽपि च लौकिकीयं लीला हरेः काचन लोभनीया
महेशशीर्षादपि भूमिमध्यं गतैव गंगा मुदमातनोति ।।[2]

प्रस्तुत दृष्टान्त भक्तिदेवी की उत्कण्ठा को व्यक्त करता हुआ भक्तिरस का पोषण कर रहा है ।

षष्ठ अंक में सार्वभौम आचार्य चैतन्य-प्रभु के दर्शनार्थ पहुँचकर प्रभु को दण्डवत् प्रमाण करके कहते है--

नानालीलारसवशतया कुर्वतो लोकलीलां
साक्षात्कारेऽपि च भगवतो नैवतत्त्वबोधः ।
ज्ञातुं शक्नोत्यहह न पुमान्दर्शनात्स्पर्शरत्नं
यावत्स्पर्शाज्जनयतितरां लोहमात्रं न हेम ।।[3]

---

1. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । साहित्य-दर्पण- 10/50.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/18.
3. वही. - 6/32.

प्रस्तुत दृष्टान्त सार्वभौम के उत्साह को सुव्यक्त करता हुआ भक्तिरस का परिपोष कर रहा है ।

व्यतिरेक-

जहाँ उपमान की अपेक्षा अन्य अर्थात् उपमेय का व्यतिरेक वर्णित किया जाता है[1] । वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है ।

षष्ठ अंक में नेपथ्य से चैतन्य-प्रभु के गुणों के वर्णन में नित्यानन्द प्रभृति का कथन है--

चारुकारुणिकमारुचिरांगं ब्रह्मदारुमयमेतद्देति ।
आहतोऽस्य रुचिकन्दलवृन्दैरिन्द्रनीलमणिदर्पणदर्पः ।।[2]

यहाँ पर उपमेय दारु ब्रह्म (चैतन्य) से उपमान इन्द्र नीलमणि निर्मित दर्पण का व्यतिरेक प्रतिपादित किया गया है । यह व्यतिरेक भी चैतन्य-विषयक नित्यानन्द प्रभृति के भक्ति-भाव का परिपोष कर रहा है ।

अर्थान्तरन्यास-

जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य के विचार से सामान्य या विशेष वस्तु का उससे भिन्न के द्वारा समर्थन किया जाये वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है ।[3]

---

1. उपमानाद्यन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । काव्यप्रकाश-- 10/159.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/23.
3. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तुसोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।। काव्यप्रकाश- 10/109.

पंचम अंक में अदृश्य-गमन के बाद पुनः अद्वैतपुर मे चैतन्य-प्रभु के आगमन का समाचार सुनकर नेपथ्य से अद्वैत आचार्य का कथन है-

आशापाशद्विगुणवलितैस्तद्गुणैरेव बद्धाः
प्राणा नो यद्विरहविधुरा हन्त गन्तुं न शेकुः ।
संप्रत्येतैरुपकृतमहो तन्मुखं दर्शयद्भि-
र्दिष्टे हीष्टे भवति सहसा हन्त वामोऽप्यवामः ।।[1]

यहाँ पर "संप्रत्येतैरुपकृतमहो" इस सामान्य कथन से अन्य तीन पादों के विशेष कथन का समर्थन हो रहा है । अतएव अर्थान्तरण्यास अलङ्कार है ।

काव्यलिंग-[2]

षष्ठ अंक में चैतन्य-प्रभु का वर्णन करते हुये आचार्य भट्टाचार्य का कथन है-

स्वजनहृदयसद्मा नाथ पद्माधिनाथो
भुवि चरसि यतीन्द्रच्छद्मना पद्मनाभः ।
कथमिह पशुकल्पास्त्वामनल्पानुभावं
प्रकटमनुभवामो हन्त वामो विधिर्नः ।।[3]

यहाँ पर सम्पूर्ण वाक्यार्थ चतुर्थ चरण के "हन्त वामो विधिर्नः" का हेतु है, अतः काव्यलिंग अलङ्कार है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/11.
2. काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता । काव्यप्रकाश- 10/114.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/33.

परिकर-

जहाँ अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा विशेष्य अर्थात् वर्णनीय अर्थ की परिपुष्टि होती है ।[1]

चतुर्थ अंक मे चैतन्य-प्रभु के अदृश्य-गमन के बाद श्रीवास शची माता के दुःख का अनुभव करते हुये कहते हैं--

तन्मात्रपुत्रा बत सा तदेकचक्षुस्तदेकरूपसुखानुभूतिः ।
मातापि तस्मिन्गुरुदेवबुद्धिर्न तं बिना जीवति सा क्षणं च ।।[2]

यहाँ पर शची माता के एकमात्र पुत्र तथा वही उनकी आँख एव सुखानुभूति है इस प्रकार के साभिप्राय विशेषण से प्रकृत अर्थ का उपपादन होने से परिकर अलङ्कार है जो कि चैतन्य के प्रति शची-माता के वात्सल्य-भाव को उद्दीप्त कर रहा है ।

एकावली-

जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु का अनेक बार विशेषण के रूप में विधान या निषेध हुआ करता है वह विद्वानों के द्वारा एकावलि अलङ्कार कहलाता है ।[3]

द्वितीय अंक में भक्तिदेवी विराग को चैतन्य-प्रभु के बारे में बताती है-

---

1. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः । काव्यप्रकाश- 10/183.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/18.
3. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
   विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ।। काव्यप्रकाश- 10/198.

नवद्वीपे नासीदहह स जनो यस्य न पुरे
हरेर्गेहं नो तपदपि भगवन्मूर्तिरहितम् ।
न सा यस्याः सेवा न भवति न सा या न सरसा
रसो नासौ संकीर्तननटनमुख्यो न खलु यः ।।[1]

नवद्वीप में ऐसा कोई घर नहीं है जिसके घर में भगवान का मन्दिर न हो, और वैसा मन्दिर नहीं है । जिसमें भगवान् की मूर्त्ति न हो, वैसी कोई भगवन्मूर्त्ति नहीं है जिसकी सेवा नहीं होती हो, और वह सेवा भी नहीं है जो सरस तथा कीर्त्तन नर्त्तन युक्त ना हो ।

यहाँ पर पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु का अनेक बार विधान होने के कारण एकावलि अलङ्कार है ।

अर्थापत्ति-

जहाँ कैमुत्यन्याय[2] के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि हो, वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार होता है[3]। तृतीय अंक में प्रेमभक्ति का कथन है-

येयं नटैरप्यभिनीयमाना लीला हरेरेति रसायनत्वम् ।
सा यत्स्वकीयैः स्वयमीश्वरेणाभिनीयते तत्किमुदाहरामः ।।[4]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/16.
2. कैमुतिकन्याय-(किमत+ठक्) "और कितना अधिक" एक प्रकार का तर्क (किमुतं "और कितना अधिक," से व्युत्पन्न), संस्कृत हिन्दी कोश-पृ. -303.
3. कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरूहाम् ।। कुवलयानन्द-पृ. - 192.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/56.

यहाँ पर तात्पर्य है कि नटों द्वारा अभिनीत भगवान् की लीला सरस तथा आकर्षक होती है । वही लीला जब स्वयं प्रभु द्वारा अभिनीत की जायेगी तो उसकी आकर्षकता के सम्बन्ध में क्या कहा जाये, अर्थात् अवश्य ही कहीं अधिक आकर्षक होगी । इसके अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति अर्थबल से हो रही है अतः अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

संसृष्टि-

जहाँ अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति होती है वहाँ पर संसृष्टि नामक अलङ्कार होता है।[1] यह स्थिति केवल शब्दालङ्कारों एवं केवल अर्थालङ्कारों तथा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के मध्य हो सकती है ।[2]

चतुर्थ अंक में कीर्तन-समायोजन हेतु श्रीवास के प्रांगण में प्रवेश करते हुये चैतन्य-प्रभु को देखकर अद्वैत का कथन है-

आहलादयन्नक्षि जगज्जनानां प्रेमामृतस्यन्दसुधीमपादः ।
उल्लासयन्कौमुदमुज्जिहीते चन्द्रश्च विश्वंभरचन्द्रमाश्च ।।[3]

यहाँ पर प्रथम एवं द्वितीय पाद में अर्थश्लेष तथा चतुर्थ पाद के "विश्वंभर-चन्द्रमाश्च" पद में रूपक अलङ्कार निरपेक्ष भाव से विद्यमान है अतः अर्थश्लेष और रूपक अलङ्कार की संसृष्टि है । प्रस्तुत प्रसंग में इन अलङ्कारों की संसृष्टि से भक्ति-रस उपस्कृत हो रहा है ।

---

1. सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः । काव्यप्रकाश- 10/207.
2. एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एवउभयत्रापि वा अवस्थान सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः । काव्यप्रकाश- 10. 139. वृत्ति.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/5.

संकर-

जहाँ अनेक अलङ्कार इस तरह मिश्रित हो गये हों कि वे स्पष्ट रूप में अलग-अलग प्रतीत नहीं होते हैं अर्थात् नीरक्षीरवत् मिल जायें, वहाँ संकर अलङ्कार होता है[1]। अलङ्कारों का यह सांकर्य तीन प्रकार का होता है-{1} अंगांगिभाव संकर, {2} सन्देह संकर, {3} एकाश्रयानुप्रवेश संकर[2]।

अंगांगिभाव संकर-

अपने स्वरूप में निरपेक्ष भाव से पर्यवसित न होने वाले अलङ्कारों का अंग तथा अंगी रूप से स्थित होना अंगांगिभाव संकर अलङ्कार कहलाता है[3]।

चतुर्थ अंक में पश्चिमांचल की चोटी पर पहुँचने वाले सूर्य को नीचे जाता हुआ देखकर अद्वैत का कथन है-

सायाह्नसंगसुखलुप्तधियः प्रतीच्याः
 शोणाभ्रवाससि समुच्छ्वसिते नितम्बात् ।
कांचीकलापकुरुविन्दमणीन्द्ररूपी
 कालक्रमाद्दिनपतिः पतयालुरासीत् ।।[4]

---

1. नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालङ्कारमेलनं संकरः । कुवलयानन्द. पृ. - 285.
2. अंगांगित्वेलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
 सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ।। साहित्य दर्पण- 10/99.
3. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः । काव्य प्रकाश- 10/140. का पूर्वार्द्ध ।
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/4.

प्रस्तुत पद्य में समासोक्ति तथा द्वितीय पाद में रूपक (शोभा शोणाभ्रवासित) तथा चतुर्थ पाद में अपह्नुति अलङ्कार है । यहाँ पर पर्यवसित होने वाले अलङ्कार रूपकऔर समासोक्ति है । चतुर्थ पाद में प्राप्त अपह्नुति रूपक को ही उपस्कृत कर रहा है । अतः इन अलङ्कारों का परस्पर अंगांगिभाव है । यहाँ पर अपह्नुति अलङ्कार प्रधानभूत है । रूपक एवं समासोक्ति प्रधानभूत अलङ्कार के साधक के रूप में प्रयुक्त हैं । इन द्विविध अलङ्कारों से प्रधानभूत अलङ्कार पुष्ट हो रहा है । अतएव अपह्नुति अलङ्कार का दो अलङ्कारो के साथ साध्य-साधन भाव अथवा अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में उक्त दो अलङ्कार अंग है तथा अपह्नुति अलङ्कार अंगी है । अलङ्कारों का प्रस्तुत साङ्कर्य सम्भोग शृंगार के स्थायी रति भाव को व्यक्त कर रहा है ।

इस प्रकार कवि कर्णपूर के काव्य में अलङ्कार-प्रयोग के उपर्युक्त समीक्षण से सुस्पष्ट है कि कवि के द्वारा प्रयुक्त अलङ्कार चाहे रसाभिव्यक्ति का प्रसग हो यावस्तुवर्णनादि का प्रसंग हो सर्वत्र चमत्कार की सृष्टि करते हुये पाये जाते हैं । कवि के नाटक में कहीं पर भी अलङ्कार स्वतः अलङ्कार्य नही हो गये हैं । किसी भी अलङ्कार कानिरन्तर एक रूप से अनुप्रवेश नहीं किया गया है । कई स्थलों पर अलङ्कार रसाभिव्यंजक भी हैं । अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर का नाटक अनावश्यक अलङ्कारो के भार से आक्रान्त रमणी की भाँति मन्द-मन्द गति से गमन करने वाला नहीं है, अपितु अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों को आह्लादित करने वाला है ।

सप्तम-अध्याय

सप्तम-अध्याय

प्रकृति-चित्रण

कवि का वास्तविक काव्य-सौन्दर्य प्रकृति वर्णन में अन्तर्निहित है । प्रकृति वर्णन कवि प्रतिभा का रमणीय उपहार है । कवि की प्रतिभा रूपी उपवन में खिला हुआ काव्य पुष्प प्रकृति का प्रेम प्राप्त करके दूगने उत्साह से सान्दर्य को वहन करता है । प्रकृति प्राचीन काल से ही मानव जीवन की सहचरी है । मानव-जीवन की परिधि के चारो तरफ प्रकृति का प्रसार दिखलायी पड़ता है । जीवन-पर्यन्त प्रकृति के उत्संग में रहने के कारण मनुष्य का प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है । अतः कवि भी अपनी लेखनी से प्रकृति का चित्रण करके अपनी कला चातुरी का आविष्कार करता है । संस्कृत काव्यों में प्रकृति उभय रूपेण चित्रित की गयी है-- आलम्बन रूप से तथा उद्दीपन रूप से । आलम्बन रूप वाले वर्णनों में प्रकृति स्वयं वर्ण्य रहती है तथा उद्दीपन रूप में उसका मानव-प्रकृति के ऊपर उत्पन्न प्रभाव ही वर्ण्य विषय रहता है । काव्य के जीविततत्व रस के उपनिबन्धन में तत्पर कवि को अपने काव्य में उद्दीपन विभाव के रूप में प्राकृतिक दृश्यो का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । प्रकृति के नाना रूप जैसे वन, उपवन, नदी, शैल, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वसन्त-ऋतु आदि मनुष्य के विविध भावों को उद्दीप्त करने वाले होते है । संस्कृत महाकवियों द्वारा चित्रित प्राकृतिक दृश्यों में प्रकृति के मञ्जुल तथा भयावह-रोमांचकारी स्वरूप का दर्शन होता है । प्रकृति के मंजुल रूप से आशय उसके सुकुमार रूप जैसे उपवन, वसन्त ऋतु, चन्द्रोदय एवं तपोवन आदि से है तथा भयावह रूप से आशय उसके भीम रूप जैसे अटवी, ग्रीष्म, भूधर आदि से है ।

कवि कर्णपूर ने अपने प्रकृति चित्रण में पूर्व प्रदर्शित प्रकृति चित्रण विषयक मार्ग का अनुसरण करते हुये उनके मध्य में तीसरा मार्ग भी बनाया है । कवि का यह प्राकृतिक सौन्दर्य स्थल सहृदयों के समक्ष अलङ्कार प्रिय, कल्पना शक्ति कुशल और चमत्कार से

अलंकृत होता है । प्रकृति चित्रण दो प्रकार का होता है- बाह्य प्रकृति-चित्रण, अन्तः प्रकृति चित्रण । बाह्य प्रकृति चित्रण में कवि अपनी लेखनी से उन-उन दृश्यों का समुचित वर्णन करता है । बाह्य प्रकृति चित्रण में कवि कर्णपूर ने जिस प्रकार की सफलता प्राप्त की है उस प्रकार की अन्य कवियों ने नहीं । बाह्य प्रकृति चित्रण के वर्णन प्रसंग में कवि कर्णपूर ने महाकवि कालिदास के ही वैदर्भ मार्गों को स्वीकार किया है । इसलिये इनकी प्रकृति सुकुमार और अल्प चित्रित है । भवभूति द्वारा वर्णित प्रकृति के भयंकर रूपों के वर्णन के प्रति उनकी रूचि नहीं दिखायी देती । इसलिये इनका प्रकृति वर्णन अत्यन्त मनोहारि है । जैसे सुन्दर चित्र, वस्त्र और अलंकारो से शोभित तरूणी जन मानस को प्रसन्न करती है वैसे ही कवि कर्णपूर द्वारा निबद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य भी नाना अलङ्कार एवं रस के द्वारा सहृदयों, दर्शकों एवं पाठकों का मन हरता है ।

कवि कर्णपूर ना केवल बाह्य प्रकृति चित्रण में पटु हैं अपितु अन्तः प्रकृति चित्रण में भी प्रवीण है । प्रत्येक पात्रो के मनोभावों को सुन्दरता से वर्णित करने के कारण ही पाठक कवि वर्णना चातुरी की प्रशंसा करते हैं । कवि विश्व में छिपे हुये अनन्त सौन्दर्य के ऊपर से आवरण हटाकर उसे प्रकाशित करता है और चिर-परिचित प्राकृतिक को अपन भावनाओं और कल्पना शक्ति के रंगीन प्रकाश से उद्‌भासित करके ऐसा रूप प्रस्तुत करता है कि वे अपरिचित से अथवा नए जैसे प्रतीत होते हैं ।

बाह्य प्रकृति चित्रण-

कवि कर्णपूर प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अनुभव करता है । वह प्रकृति को सजीव और मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत मानता है । मनुष्य के तुल्य वह भी सुख-दुःख का अनुभव करती है । वह मनुष्य के सुख-दुःख में सहानुभूति प्रकट करती है । मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों का आदान-प्रदान सदा चलता रहता है । कवि कर्णपूर ने अपनी प्रकृति की शोभा बढ़ाने के लिये उसे भिन्न-भिन्न अलङ्कारों से अलंकृत भी किया है । तृतीय अंक में कवि ने पुष्पाञ्जलि का वर्णन उत्प्रेक्षा अलङ्कार में किया है । स्वच्छप्रभा से दिशायें शुभ्रता को प्राप्त करती है । भ्रमरावलि

से विभूषित, सुगन्धपूर्ण नखचन्द्रकान्ति को बढ़ाने वाली यह पुष्पाञ्जलि नाट्य लीला में हास के समान शोभित होती है-

भासा भास्वरयन्दिशो विशदया कान्ति द्विजश्रेणिजां
बिभ्राण: परितो लसत्परिमल: प्रोद्दामसतो भ्रूः ।
शुद्ध: पादसरोरुहे भगवत: पुष्टिं नखेन्दुश्रियां
तन्वन्हास इवैष नाट्यरहस: पुष्पाञ्जलि: कीर्यते ।।[1]

यहाँ पुष्पाञ्जलि नाट्यलीला में हासत्व से उत्प्रेक्षित है । हास भी दिशाओं को स्वच्छ बनाता है, दन्त की कान्तियों से युक्त होता है, उससे भी सुगन्ध फैलती है अत: यहाँ पुष्पाञ्जलि को हास से उत्प्रेक्षित किया है ।

कवि कर्णपूर ने भगवान् श्रीकृष्ण के वंशीनिनाद को प्रकृति के साथ समायोजित किया है-

मधुरिमरसवापीमत्तहंसीप्रजल्प:
पुण्यकुसुमवाटीभृङ्गसंगीत घोष: ।
सुरतसमरभेरीझांकृति: पूतनारे-
र्जयति हृदयदंशी कोऽपि वंशीनिनाद: ।।[2]

यहाँ कवि ने वंशीनिनाद की कल्पना मधुर रस की वापी मे तैरने वाली मतवाली हंसी के शब्द से, पुण्यरूप पुष्पवाटिका मे विचरण करने वाले भ्रमर के शब्द से तथा सुरतयुद्ध में बजने वाले बाजे से की है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/17.
2. वही. - 3/32.

संध्या वर्णन में भी कवि ने मानवीय रूपता सम्पादित की है । उपमा की सहायता से कवि ने वर्णनीय विषय के प्रस्तुतीकरण में सर्वथा सिद्धि हासिल की है-

नाम्नैव मे त्वमसि किंत्वखिलग्रहाणां
विश्रामपात्रमिति तत्पतिनाभिशस्ता ।
तत्प्रत्ययाय परितप्तमयो दधाति
संध्यार्कबिम्बकपटादिव वारुणी दिक् ।।[1]

लोक में जैसे पतिपरायण साध्वी पति के समक्ष अपने चरित्र के प्रताप को बनाये रखने के लिये परीक्षा के समय आग से तपते अयोगोलक को अपनी हथेली पर धारण करती है । उसी प्रकार वारुणी दिशा भी पति प्रचेतस के समक्ष सान्ध्यकालिक सूर्य बिम्ब के अग्निपुन्ज को अपने हाथ पर धारण करती है यह भाव है । निश्चय ही यहाँ कवि के हृदय में व्याप्त सौन्दर्य सान्ध्य वर्णन के प्रस्तुतीकरण से बोधित होती है। अन्यत्र भी सन्ध्या का वर्णन अत्यन्त सुन्दरता से कवि ने प्रस्तुत किया है । सायं-काल पति के साथ रति-क्रीडा से सुखी तन्वी रूपी पूर्व दिशा है । जिस पर से मेघ रूपी रक्ताभ वस्त्र का आवरण हट गया है-

सायाहनसङ्गसुखलुप्तधियः प्रतीच्याः
शोणाभ्रवासांसि समुच्छ्वसिते नितम्बात् ।
काञ्चीकलापकुरुविन्दमणीन्द्ररूपी
कालक्रमाद्दिनपतिः पतयालुरासीत् ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/3.
2. वही। 4/4.

यहाँ पर कवि ने प्रकृति के साथ-साथ श्रृङ्गार रस का भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है । प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ ही साथ कवि ने प्रकृति का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन भी किया है । ब्रजकुमार भगवान् श्रीकृष्ण की वेणुनाद को सुनकर वृक्षों के शिखर पर बैठे हुये पक्षी भी पुलकित हो जाते हैं, पर्वतमालायें भी आँसू बहाती सी प्रतीत होती हैं, तरूगण तथा लतागण भी रोमाञ्चित हो रहे हैं और नदियाँ भी अपने प्रवाह को रोकने का प्रयास सा कर रही हैं-

वितितिरपि गिरीणां मुञ्चतीवाश्रुधारां
    पुलकयति तरूणां वीरूधां चैष वर्गम् ।
विदधति सरितोऽपि स्रोतसः स्तम्भमुच्चै-
    र्हरिहरि हरिवंशीनाद एवोज्जिहीते ।।[1]

प्रकृति सौन्दर्य का उत्कृष्ट निदर्शन अन्य प्रसङ्गो में भी अवलोकनीय है । जहाँ कवि ने संन्यास-ग्रहण के पश्चात् चैतन्य महाप्रभु के सौन्दर्य स्वरूप का समन्वय आम्रवृक्ष के वैराग्य रूप से अत्यन्त कुशलता से किया है-

अहो अतिरम्यम् ।

रक्ताम्बरं कनकपीतमिदं तदेव
    देवस्य पश्यत वपुः सदृशीकरोति ।
गौरारूणस्य परिपक्वमहारसस्य
    वैराग्यसारसहकारफलस्य लक्ष्मीम् ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/33.
2. वही. - 5/14.

देवकुल के वर्णन में भी कवि ने प्रकृति देवी की सहायता प्राप्त की है । ऊँचे-ऊँचे देवकुलों [मन्दिरों] को देखकर कवि कल्पना करता है कि पृथ्वी ने सूर्य को पकड़ने के लिये देवकुल रूपी हाथों को ऊपर की ओर बढ़ाया हो, अथवा शेषनाग पाताल से सत्यलोक की ओर बढ़ रहा हो या नागफणामणिकान्ति समुदाय स्वर्ग की ओर जा रहा हो-

उत्क्षिप्तः किमयं भुवा दिनमणेराकर्षणार्थं भुजः
पातालात्किमु सत्यलोकमयितुं शेषः समभ्युत्थितः ।
किं वा नागफणामणीन्द्रमहसां राशिर्दिदृक्षुर्दिवं
दिव्यं देवकुलं प्रभोरिदमिदं भो देव विद्योतते ।।[1]

संस्कृत साहित्य के समस्त कवियों में इस प्रकार का प्रकृति प्रेम दिखलायी पड़ता है और पात्रों का सौन्दर्य भी प्रकृति देवी की शरण में जाता है । कवि कर्णपूर में भी ऐसी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है । करोड़ों दर्पण का सौन्दर्य नन्दनन्दन के पूर्ण चन्द्र बिम्ब रूपी मुख का अनुसरण करता है । दाँतों की धवल पक्तियाँ इन भगवान् के अधरों पर शोभित होती हैं । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का कवि ने प्राकृतिक पदार्थों से समन्वय स्थापित करते हुये प्रस्तुत किया है-

नवजलधरधामा कोटिकामाभिरामः
परिणतशरदिन्दुस्निग्धमुग्धाननश्रीः ।
नवकमलपलाशद्रोणिदीर्घारुणाक्षो
दशनकुसुमकान्तिश्रान्तबिम्बाधरोष्ठः ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/15.
2. वही. - 3/39.

कदाचित् कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य को उत्प्रेक्षा की सहायता से भी प्रस्तुत किया है । दीप के अभाव में गाढ़ अन्धकार से परिपूर्ण देवमन्दिर के मध्य भाग में शय्या पर बैठे हुये लक्ष्मीपति के नयन में यमुनाजल में अवस्थित मरूत का आन्दोलन मत्तभ्रमरास्वादित प्रौढ़ पुण्डरीक प्रतिभासित होते हैं-

दीपाभावघनान्धकारगहने गम्भीरगम्भीरिका
कुक्षौ तल्पत उत्थितस्य जयतो लक्ष्मीपतेर्लोचने ।
कालिन्दीसलिलोदरे विजयिनी वातेन घूर्णायिते
प्रोन्मत्तभ्रमरावलीदजठरे सत्पुण्डरीके इव ।।[1]

प्रकृति निरूपण मे निपुण कवि कर्णपूर उत्प्रेक्षा की सहायता से भागीरथ का वर्णन करते हैं । चैतन्यमहाप्रभु के गङ्गातट पर पहुँचने से पहले ही वहाँ का सम्पूर्ण स्थान जनमय हो गया था जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी की धूलि के कण ही मानव हो गये हों अथवा नक्षत्रराशियाँ ही मानव वेश में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुयीं हैं-

यावद्देवो न सुरसरितस्तीरसीमानमाप्त-
स्तावत्सर्वं जनमयमभून्त किं तद ब्रवीमि ।
किं तत्रासीदहह धरणीधूलयो लोकरूपा:
किं तारा वा मनुजवपुष: पेतुरूर्व्यां नभस्त: ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/28.
2. वही॰- 9/11.

इसी प्रकार कवि ने चैतन्य-प्रभु के साथ चलने वाली लोकपंक्ति की उपमा गङ्गा से दी है । प्रभु के साथ जाती हुयी जनों की पंक्ति गङ्गा के समान शोभित होती है । गङ्गा के ही समान उसका अविच्छिन्न प्रवाह था, बीच में कहीं खाली नहीं थी, मानवों के चपल हाथ ही उसकी तरङ्गे थीं, गङ्गा की धार विष्णुपद से निकलती है, उस लोकपंक्ति गङ्गा में विष्णुपद पड़ता था-

अथो अविच्छिन्नशुभप्रवाहा निरन्तराया चपलोर्मिहस्ता ।
निरन्तरं विष्णुपदावतारा गङ्गेव दीर्घा जनपंक्तिरासीत् ।।[1]

कवि ने प्रकृति के साथ मानव का तादात्म्य भी स्थापित किया है । भगवान् विश्वंभर मेघ के समान अपनी गम्भीर हुंकार से आत्मीयजनों को मयूर बना रहे हैं, बहती हुयी अश्रुधारा से भुवन को सींच रहे हैं, दिशाओं में फैलते हुये अपने तेजपुञ्ज से बिजली चमका रहे हैं । और नृत्यावस्था में चक्राकार भ्रमण करते हुये दिशाओं में फैली हुयी नेत्रप्रभा से सरोजमाल्य को पराभूत करते है, अश्रुप्रवाह से दिशाओं में मकरन्द की सृष्टि करते हैं, एवं अपनी भ्रूयुग से भ्रमरों को पराजित कर रहे हैं-

गभीरैर्हुंकारैर्निजजनगणान्बर्हिणयति
द्रुतैर्बाष्पाम्भोभिर्भुवनमनिशं दुर्दिनयति ।
महःपूरैर्विद्युद्वलययति दिक्षु प्रमदय-
न्नसौ विश्वं विश्वंभरजलधरो नृत्यति पुरः ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 9/12.

2. वही. - 4/9.

अपि च-

दिशि विदिशा दृशा सरोजमालां
नयनजलेन मधूनि तत्र तन्वन् ।
मधुकरनिकरं भ्रुवा च चक्र-
भ्रमिनटने जयतीह गौरचन्द्रः ।।[1]

यद्यपि कवि कर्णपूर ने सर्वत्र प्रकृति देवी के सुकुमार पथ का ही निरूपण किया है, किन्तु उन्होने रौद्र रस के द्वारा भी थोड़ा बहुत प्रकृति का भी वर्णन किया है । कवि के कथनानुसार लक्ष्मी के कुपित होने पर भी पताकायें दशदिशाओं में व्याप्त हो रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो शेषनाग की दो हजार जीभें एक साथ दसों दिशाओं को चाट रही हों, मन्द-मन्द चलते हुये चामर नभ में उड़ते हंसो के समान तथा उजले छत्र विकसित श्वेतकमलों के समान दिखायी दे रहे हैं-

पताकाभिर्देवी कलहमनु भोगीन्द्ररसना
सहस्रस्य द्वाभ्यां युगपदिव लीढा दशदिशः ।
नभोवापी हंसैरिव मृदुचलैश्चामरचयैः
सितच्छत्रैः फुल्लद्धवलकमलौघैरिव वृता ।।[2]

उषाकाल का भी कवि ने सुन्दर चित्रण किया है । रात्रि समाप्त हो गयी है, क्योंकि चन्द्रमा अस्ताचल पर तथा सूर्य उदयाचल पर पहुँच चुके हैं, इस समय दोनों की ही कान्ति समान है, यह ऐसे लग रहे हैं मानो अतिवृद्ध प्रातःकाल-रूप पुरूष की दो निस्तेज आँखें हों-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/10.
2. वही॰ - 10/61.

अस्ताचलोदय महीधरयोस्तटान्तं
शीतांशुचण्डकिरणावुपसेदिवांसौ ।
तुल्यत्विषौ मृदुतया वहतः प्रगस्य
वर्षीयसः क्षणमिवोपरि लोचनत्वम् ।।[1]

कवि ने उत्प्रेक्षा की सहायता से उमड़े हुये मेघमण्डल की कल्पना की है । धूपों का धूम सभी दिशाओं में फैलता हुआ मेघों की भाँति प्रतीत हो रहा है । मुरज आदि वाद्यों की ध्वनियों का गर्जन भी इसी की भाँति प्रतीत होता है । शुभ्र तोरणादि सफेद कपोतों की भाँति लगती है-

सुधूमानां धूमैः प्रतिदिशमुदीर्णैरुपचिते
घनौघे गम्भीरं ध्वनति मुरजादिव्यतिकरे ।
बलाकानां श्रेण्यामिव धवलसत्तोरणततौ
चलन्त्यामुन्मत्ता इव दधति लास्यानि शिखिनः ।।[2]

कवि कर्णपूर द्वारा चित्रित वृन्दावन का रमणीय प्राकृतिक वर्णन देखने योग्य है । कवि ने कम शब्दों में ही प्रकृति के इस प्रकार के रमणीय रूप को चित्रित करने में जिस प्रकार का रंग तूलिका में भरा और उसके द्वारा निर्मित चित्र का वर्णन किया है सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाला है । वासन्ती लता खिल रही है, वकुल कलियाँ लग रही हैं, अशोक का शोक दूर हो रहा है, चम्पा की कलियाँ आसानी से प्राप्य हैं, नागकेसर खिल रही हैं, यह पुष्पकुञ्ज गुच्छों से रमणीय हो रहा है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/27.

2. वही. - 10/62.

हसन्ती वासन्ती, वलितमुकुलो बालबकुलो,
विशोकश्चाशोकः, सुलभविचयश्चम्पकचयः ।
अनागः पुंनागः स्तबककमनः पश्य सुमनः-
कुटीरः पाटीरश्वसनसुरभिर्भाति सुरभिः ।।

कवि ने भ्रमर को रसिक नायक के समान दर्शाया है क्योंकि वह लवङ्गी लता को छोड़कर राधा के मुख गन्ध से अन्धा होकर इधर उधर घूमता है-

मुक्त्वा लवङ्गलतिकां चपलो मधुसूदन एषः ।
प्रियसखि अनियतप्रेमा तव मुखगन्धेनान्धो भ्रमति ।।[2.]

सूर्योदय का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि उदयाचल रूप प्राकार को किसी प्रकार लाँघकर प्राची दिशा के वस्त्र को पकड़े हुये यह बालक सूर्य कालवश उपस्थित हो रहा है । यद्यपि अभी इसमें पाद-प्रसारण (किरण फैलाने की) की क्षमता नहीं प्राप्त हुयी है-

उल्लङ्घ्य किंचिदुदयाचलवप्रधारां
प्राच्या दिशोऽम्बरतटीमवलम्बमानः ।
पादप्रसारणविधावपटुस्तथापि
बालो रविः कलय कालवशादुदेति ।।[3.]

यमुना नदी को भी पवित्र देवी के रूप में कवि ने वर्णित किया है भगवान् चैतन्य यमुना की स्तुति करते हैं-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/35.
2. वही. - 3/48.
3. वही. - 4/14.

चिदानन्दभानोः सदा नन्दसूनोः परमप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री ।
अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री पवित्रीक्रियान्नो वपुर्मित्रपुत्री ।।[1.]

कवि ने अपनी लेखनी से चन्द्रमा को भी स्पर्श किया है । सुदीर्घाकार भृङ्गो से युक्त विकसित कमल के सदृश नयनवाला यह चन्द्रमा कहाँ से आ गया ? -

तुङ्ग भृङ्ग युवसंगतफुल्लत्पुण्डरीकवरलोचनलक्ष्मि ।
हिङ्गुलस्नपितशुक्ल चतुर्थीशीतदीधितिकलाधरबिम्बम् ।।[2.]

कुञ्जप्रदेश में पूँछ उठाकर दौड़ते हुये बछड़ो को देखकर शरीर की ओर ध्या दिये बिना ही उस कण्टकाकीर्ण मार्ग में गिर जाते थे । वृक्ष, पशु, पक्षी आदि का चैतन्य महाप्रभु के प्रति अत्यन्त सौहार्द था । जब प्रभु करूण विलाप करते तब त्यक्तनृ तथा अश्रुपूर्ण कण्ठ होकर मयूरगण भी उनके साथ विलाप करते थे-

कुञ्जसीमनि कदापि यदृच्छामूर्च्छया निपतितस्य धरण्याम् ।
आलिहन्ति हरिणा मुखफेनानापिबन्ति शकुना नयनाम्भः ।।[3.]

कवि कर्णपूर कृत वर्णन अत्यन्त सुन्दर सूक्ष्म और श्लिष्ट है । प्रकृति सौन्द में कवि अत्यन्त निपुण है । उनका यह प्रकृति वर्णन वैज्ञानिक और बौद्धिक है । अब कवि के द्वारा वर्णित प्रकृति के बाह्य स्वरूप का वर्णन किया गया है । अब उनके द्वा की गयी अन्तः प्रकृति चित्रण को भी प्रस्तुत किया जा रहा है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/10
2. वही. - 6/22.
3. वही. - 1/24.

अन्तः प्रकृति चित्रण-

कवि कर्णपूर द्वारा किया गया प्रकृति देपी का अन्तः प्रकृति चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी ज्ञात होता है । इस प्रकार का वर्णन अन्य कवि द्वारा करना कदाचित संभव नहीं मालूम पड़ता है । चैतन्य महाप्रभु किस प्रकार से देवान्तध्यानि हो जाते हैं और उनके समस्त परिजन एवं मित्रगण उनकी बिरहावस्था को किस प्रकार से सहन करते हैं इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण उनके द्वारा किया गया है । अद्वैत के हृदय में स्थित विरहावस्था अवलोकनीय है-

> हे विश्वंभरदेव हे गुणनिधे हे प्रेमवारांनिधे
> हे दीनोद्धरणावतार भगवन् हे भक्तचिन्तामणे ।
> अन्धीकृत्य दृशो दिशोऽन्धतमसी कृत्याखिल प्राणिनां
> शून्यीकृत्य मनांसि मुन्चति भवान्केनापराधेन नः ।।[1]

चैतन्य प्रभु के गमन से श्रीवास के हृदय मे उत्पन्न विविध प्रकार के करूण क्रन्दन का कवि ने सुन्दर भाव उपस्थित किया है । कवि की करूण भाव की इस प्रक की हृदयावर्जनसमर्थ अभिव्यक्ति अवलोकनीय है-

> पूर्वं मृतः कथमहो बत जीवितोऽहं
> भूयोऽपि मारयसि किं बत जीवयित्वा ।
> दुर्ललिता तव विभो न मनोऽधिगम्या
> नन्वीश्वरो भवति केवलबाललीलः ।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/17
2. वही. - 4/23.

चैतन्य प्रशान्त अन्तः करण वाले हैं । ये सांसारिक मोह माया को अपनी आत्मा मे रत कर लेते हैं । उनके अनुसार बिना समस्त वस्तु का त्याग किये ईश्वर का भजन नहीं हो सकता है-

विना सर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपते-
रिति त्यागो स्माभिः कृत इव किमद्वैतकथया ।
अयं दण्डो भूयान्प्रबलतरसो मानसपशो-
रितिवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम् ।।[1.]

नवद्वीप वासियों के हृदय में भगवान् चैतन्य विषयक महान अनुराग है । उनके दर्शन मात्र से ही नगर वासियों के दोष दूर हो जाते हैं । उनके पास शोकाकुल आने वाले लोगों में वनस्पति आदि भी उनके दर्शन रूपी जल से नवपल्लवों से युक्त हो जाते हैं-

अद्यान्ध्यं गतमेव नो नयनयोरद्य प्रसन्ना दिशः
शुष्काश्चाद्य जिजीविषावृततया: प्रोन्मीलयन्त्यङ्कुरान् ।
नष्टेऽन्तःकरणे च केनचिदहो चैतन्यमप्याहितं
येनास्माकमहो बताद्य भविता चैतन्यचन्द्रोदयः ।।[2.]

इसी प्रकार अन्तः करण का अत्यन्त विशद चित्रण अन्य पद्य मे भी द्रष्टव्य है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/22.
2. वही. - 5/25.

उत्तीर्णोऽद्य भवाब्धिरद्य पिहितं द्वारं यमस्यापि च
प्राप्तं मानुषजन्मलम्भनफलं तप्तं च सर्वं तपः ।
यद्देवः करूणाकटाक्षसरसोऽदर्शीति सर्वैरहो
प्रत्येकं पृथमद्भुरात्मसुभगीभावः समुद्घुष्यते ।।[1]

इस नाटक चैतन्यचन्द्रोदय में अमूर्त पदार्थों को भी मूर्त चेतन रूप मे निबद्ध किया है । गङ्गा, समुद्र आदि पात्र इसी प्रकार के है । गङ्गा के हृदय में महाप्रभु विषयक दृढ़ अनुराग है इसीलिये उनके जाने से उसे भी सन्ताप होता है कि जिस मेरे जल में भगवान् नित्य प्रति अवगाहन करते रहे हैं । अब वह मुझे छोड़कर जा रहे हैं-

यत्पादशौचजलमित्यलममस्मि विश्व-
विख्यातकीर्तिरसकौ रसकौतुकीशः
नित्यावगाहकलया रसयांचकार
मामद्य स त्यजति हा बत तेन दूये ।।[2]

गाँव गाँव में कपटवेषधारी धूर्त घूमते रहते हैं और वनों में लुटेरे घूमते रहते हैं । जिनके कारण पथिकों के हृदय शंका ग्रस्त रहा करते हैं, किन्तु वहाँ भगवान् चैतन्य को देखकर उनके दर्शन मात्र से ही स्तब्ध हो जाते हैं-

ग्रामे ग्रामे पटुकपटिनो धद्रमाला य एते
येऽरण्यानीचरगिरिचरा वाटपाटच्चराश्च ।
शङ्काकाराः पथि विचलतां तं विलोक्यैव साक्षा-
दुद्यद्बाष्पाः स्खलितवपुषः क्षोणिपृष्ठे लुठन्ति ।।[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 5/24.
2. वही. - 6/1.
3. वही. - 6/6.

रामानन्द मृदु हृदय हैं । वह भी प्रभु चरणारविन्दों के दर्शन् मात्र से ही आनन्दित हो जाते है । कवि ने रामानन्द की मनःस्थिति को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है-वह सोचते है कि भाग्य ने अकस्मात् निधि को मेरे पास पहुँचा दिया है । आपके चरणारविन्दों का दर्शन ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो सुपक्व होकर आनन्द वृक्ष का फल चू पड़ा हो-

> आकस्मिको नु विधिना निधिरभ्यनायि
> भग्नः किमिन्दुरमृतस्य यदेष पातः ।
> आनन्दभूरूहफलं सुविपच्चरीणं
> दृष्टं यदेव तव देव पादारविन्दम् ।।[1.]

भगवान् की आनन्दावस्था का कवि ने रमणीय चित्र प्रस्तुत किया है । भगवान् वक्रेश्वर में प्रेमातिरेक उन्माद है । वे भावावेश में आकर नृत्य करते हैं । वक्रेश्वर के अन्तः करण को देखकर प्रतीत होता है कि यह शरीरधारी आनन्द है अथवा प्रेम ने ही शरीर धारण किया है अथवा श्रद्धा स्वरूप धारण करके अवतीर्ण हुयी है अथवा माधुर्य है या नवधा भक्ति है-

> आनन्दः किमु मूर्त एष परमः प्रेमैव किं देहवान्
> श्रद्धा मूर्तिमती दयैव किमु वा भूमौ स्वरूपिण्यसौ ।
> माधुर्यं नु शरीरि किं नवविधा भक्तिर्गतैका तनुं
> तुल्यावेशसुखोत्सवो भगवता वक्रेश्वरो नृत्यति ।।[2.]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 7/18.

2. वही०- 4/7.

यद्यपि चैतन्यचन्द्रोदय नाटक वैष्णव दर्शन पर आधारित है । तथापि कवि कर्णपूर ने राधा-कृष्ण के प्रेमाश्रित अभिनयों को सरस रूप में प्रदर्शित किया है । भगवान् श्रीकृष्ण के रसिक स्वभाव का भी मनोहारि चित्रण किया गया है । राधा के निसर्ग सौन्दर्य को देखकर उनके मन में विविध विचार आते हैं कि इसे क्या कामदेव ने बनाया है अथवा प्रेम नामक चित्रकार ने अथवा ब्रह्मा ने स्वयं कुन्द पुष्प में लावण्य डाल दिया है-

उत्कीर्णा किमु चारू कारूपतिना कामेन किं चिंत्रिता
प्रेम्णा चित्रकरेण किं लवणिमा त्वष्ट्रैव कुन्दे धृता ।
सौन्दर्याम्बुधिमन्थनात्किमुदिता माधुर्यलक्ष्मीरियं
वैचित्र्यं जनयत्यहो अहरहर्दृष्टाप्यदृष्टेव मे ।।[1]

चैतन्य प्रभु श्रीकृष्ण का अभिनय करते हैं उनके हृदय में सासारिक विषय वासना के प्रति विराग है । दूसरी ओर श्रीकृष्ण रूप में अभिनय प्रदर्शन करते समय कृत्रिम श्रृङ्गारिक भाव भी दर्शाते हैं-

एतत्स्वर्णसरोरूहं तदुपरि श्रीनीलरत्नोपले
तत्पश्चात्कुरूविन्दकन्दलपुटे तत्रापि मुक्तावली ।
सर्वं दृश्यत एव किंतु निभृता या हेमकुम्भद्वयी
किं वान्यन्नयसेऽनयेति तदिदं बाले विचार्यं मम ।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/46.

2. वही. - 3/54.

गौराङ्ग प्रभु के हृदय में ना केवल सचेताओं के प्रति प्रेम भावना है अपितु प्राकृतिक पदार्थों के प्रति भी आत्मीयता है । यमुना तट पर स्थित कुञ्ज में रमणीय वन को देखकर प्रेमातिरेक वशात् कदाचित् वह मुक्त कण्ठ में रोते हैं तथा रमणीय भुजदण्डों को फैलाकर वृक्षों और लताओं का आलिङ्गन करते है-

क्वचन च यमुनावनान्तलक्ष्मी-
मवकलयन्ननुरक्तिमुक्तकण्ठम् ।
विलपति परिरभ्य लोभ्यबाहुः
प्रतिलतिकं प्रतिशाखि सोऽखिलेशः ।।[1.]

जननी शची देवी हृदय में पुत्र के प्रति ईश्वर बुद्धि स्थापित करके वात्सल्य भाव भी उत्पन्न करती हैं-

वैराग्यमेव भव किं किमु वानुभूति-
र्भक्तिर्नु वा किमु रसः परमस्तनूभृत् ।
तात स्तनंधयतयैव भवन्तमीक्षे
लब्धोऽधुनापि न कदापि पुनस्त्यजामि ।।[2.]

भगवान् चैतन्य को सांसारिक भोग विलास के साधनभूत पदार्थों से विराग था, परन्तु गजपति प्रतापरूद्र की ऐसी दशा है । राज्य व्यापार में उनका मन नहीं लगता, सुख भोग रोग के समान लग रहा है इस पर भी यदि प्रभु दृष्टिपात नहीं कर तो वह प्राण त्यागने को उद्यत हैं । उनकी इस मनोदशा को बड़ी कुशलता से वर्णित किया है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/20.
2. वही. - 5/27.

अभून्न चेष्टा मम राज्यचेष्टा सुखस्य भोगश्च बभूव रोगः ।
अतः परं चेत्स न वीक्षते मां न धारयिष्ये बत जीवनं च ।।[1]

इस प्रकार कवि कर्णपूर ने प्रकृति के वैभव का सम्यक् निरीक्षण चित्रित किया है । उनका यह सूक्ष्म प्रकृति का रहस्य सावधानी पूर्वक ग्रहण किया गया है । बाह्य प्रकृति के चित्रण में मर्मस्पर्शी दृश्य हृदयंगम कराने में उनकी महान विशेषता है । कवि कर्णपूर ने चेतन मानवीय प्रकृति का ही केवल वर्णन नहीं किया है बल्कि अन्तः प्रकृति का भी सर्वात्मबोध चित्रण प्रस्तुत किया है ।

कवि कर्णपूर को प्रकृति के विविध स्वरूपों के वर्णन में विशिष्टता प्राप्त है । उन्होंने मानव सौन्दर्य की तीव्रता के यथार्थ को अभिव्यक्त करके प्रकृति देवी के शरण में प्रस्तुत किया है । कदाचित् उन्होने प्रकृत मानव के मध्य में अन्योन्य प्रगाढ़ सौहार्द, सहज सहानुभूति, रमणीय रागात्मक व्यापार स्थापित किया है । चारो ओर प्राकृतिक सौन्दर्य से विभोर होकर भगवान् लीला करते हैं और आनन्द रस निमग्न होकर नृत्य करते हैं । उनके चित्रण को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही कवि कर्णपूर प्रकृति के राग निरीक्षण में पटु हैं । उनकी दृष्टि प्रकृति देवी के सौम्य, मधुर, स्निग्ध सौन्दर्य का लक्ष्य करके लुब्ध हो जाती है ।

लोक जीवन की झाँकी

कवि के काव्य में उसके युग की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जन-जीवन की झाँकी प्रतिबिम्बित् होती है । संस्कृत काव्य की यह भूयसी विशेषता है कि वह जन-साधारण के मनोभावों का चित्रण बड़ी ही कमनीय शैली में प्रस्तुत करता है । मानव के अन्तः करण के चतुर्दिक राग-द्वेष, हर्षविषाद, क्रोध-शोक, उत्साह-अवसाद आदि जितनें

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 8/27.

भी भाव हैं उनका चित्रण संस्कृत कवियों ने अपनी ललित लेखनी के द्वारा इतनी स्वाभिवकता से किया है- कि पाठक तद्वद भाव-सरिता में उन्मग्न-निमग्न होता हुआ अनुभव करता है । इसी कारणवश साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है । यद्यपि संस्कृत-कवियों का जीवन राजाओं-महाराजाओं के वैभव-सम्पन्न दरबारो में बीतता था तथापि वे जनसामान्य के जीवन से परिपूर्ण रूप से परिचित होते थे, एवं अपने काव्यों में उनकी नाना मनोवृत्तियों को अभिव्यक्त करके उनके प्रति अपनी सहानुभूति को प्रकट करते थे । कवि कर्णपूर भी ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने "चैतन्य-चन्द्रोदय नाटकम्" में समाज के चारो वर्णों का एक विशद चित्रण प्रस्तुत किया है । पन्द्रहवीं शती मध्य कालीन भारत का वह युग था । चारो ओर निराशा का अन्धका फैला हुआ था । यवनों के आक्रमण और आतंक के भय, चिन्ता, और दुःख की काली तस्वीरों से भारत की मेदिनी ढक चुकी थी । धर्म का रस स्रोत सूख गया । सभी लोग विष्णु-भक्ति से शून्य हो गये थे । कहीं भी विष्णु-भक्ति का प्रकाश नहीं था । सभी लोग वैष्णव का परिहास करते थे । समाज उस समय उच्च स्वर से हरिकीर्त्तन करने वाले विश्व-बन्धुओं को विश्व बैरी समझ कर उनके प्रति नाना प्रकार के कटु वाक्यों का प्रयोग करता था । सभी ने प्रार्थनायें व स्तुतियाँ बन्द कर दिये थे । मन्दिर उजड़ते जा रहे थे, मूर्त्तियाँ खण्ड-खण्ड हो कर बिखरती जा रही थीं और अन्याय की अग्नि की लपटों में धर्मग्रन्थ भस्म होते जा रहे थे, विश्रृंखलित बंगाली समाज एक नूतन परिवर्त की प्रतीक्षा कर रहा था, उसी समय युग के आह्वान पर जन-जीवन को समस्त यन्त्रणा और उत्पीड़नों से मुक्त एव निष्प्राण जीवन में चेतना की नवीन शक्ति का स्फुरण करने के लिए बंगाल की पवित्र धरती पर चैतन्य-महाप्रभु का जन्म हुआ । चैतन्य-महाप्रभु ने समस्त धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन कर जनसामान्य को भगवद्भक्ति का आस्वादन कराया । महाप्रभु प्रदर्शित सन्मार्ग का अवलम्बन लेकर जिस समय बंगाल उत्थ के सोपानों पर शनैः पग रख रहा था, उसी समय चैतन्य द्वारा प्रारम्भ कार्य को अमर प्रदान करने के लिये कवि कर्णपूर का आविर्भाव हुआ । कवि कर्णपूर का अविर्भावकाल वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है । प्राप्य तत्कालीन साहित्यिक विश्वस्त-सूत्रों तथा प्रमाणि ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर बंगाल के इतिहास में 15 वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा 16 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से हिन्दू

का पूर्ण पराजय काल प्रमाणित होता है ।

धार्मिक अवस्था-

श्री चैतन्यदेव के आविर्भाव से पूर्व पारमार्थिक धर्म-जगत की अवस्था नाना प्रकार के काल्पनिक धर्म तथा कपटजाल के आवरणों से आवृत्त हो चुकी थी । उस समय भारत के अन्यान्य स्थानों में जो कुछ पारमार्थिक धर्म-चर्चा होती थी, वह भी प्रबल असत्-धर्म के मतवादों के साथ संघर्ष करके क्षत-विक्षत होकर अपनी शुद्धता की रक्षा में असमर्थ और क्षीणजीवी हो चुकी थी । हृदय की शान्ति की गवेषणा में पथभ्रष्ट जनता अनेक सम्प्रदायों की ओर अग्रसर हुयी । फलस्वरूप शक्ति-सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक देवी-देवताओं[1] की पूजा प्रचलित हो गई । कवि कर्णपूर के अनुसार उस समय पारमार्थिक धर्म के स्थान में ढोंग और कपटवैराग्य ने धर्म की नाटकीय पोशाक पहन रखी थी ।

मायावादी-

"हम सन्मात्र, निर्विशेष, चिदुपाधि रहित, निर्विकल्प तथा निरीह ब्रह्म हैं," इस तरह की उक्तियों द्वारा श्रुति प्रसिद्ध ईश्वर की अशेष शक्तियों का खण्डन कर रहे थे ।[2] कपिल, कणाद, पाशुपत, पातंजल तथा जैमिनी मत के विशेषज्ञों ने अपने-अपने मत के पाखण्ड से जन-जीवन को और जटिल बना दिया था[3]। संन्यासी जनों का परिच उनके आचार में नहीं अपितु उनकी वेशभूषा से प्राप्त होता था । बाह्याडम्बर इतना व

---

1. विषहारी मनसा देवी, धर्म ठाकुर, वाशुली, चण्डी, चैतन्यभागवत- 1/2/6
67, 89, - 3/4/411-13.

2. सन्मात्रानिर्विशेषाचिदुपधिरहिता निर्विकल्पा निरीहा
ब्रह्मैवास्मीति वाचा शिव शिव भगवद्गृहे लब्धवैरा: ।
येऽमी श्रौतप्रसिद्धानहह भगवतोऽचिन्त्यशक्त्याद्यशेषा-
न्प्रत्याख्यान्तो विशेषानिह जहति रतिं हन्त तेभ्यो नमो व: ।। 2/5.

3. अहो, कपिल-कणाद-पातञ्जल-जैमिनीमतकोविदा:, एते अन्योन्यं

गया था कि सन्यासी खेचरी मुद्रा में नदी-तट पर एकान्त-साधना का आडम्बर करते, किन्तु उनकी समाधि जल हेतु आयी हुयी सुन्दरियों की चूड़ियों की खनखनाहट से ही भंग हो जाती थी[1]। उन दिनों पुण्यकामी लोगों की तीर्थयात्रा के प्रति आदरदृष्टि थी, परन्तु वह बहुधा श्रीहरि कथा में रूचि उत्पन्न करने और साधु-सग प्राप्ति के लिये न होकर देशभ्रमणरूपी काम-कौतूहल को चरितार्थ करने के लिये ही होती थी । किसने कितनी बार कन्याकुमारी से हिमालय तक भ्रमण किया है, कौन कितनी बार बद्री नारायण गया है, किसने कितने तीर्थों में स्नान-दान किया है इन्हीं बातों को लेकर पुण्यकामी लोग व्यर्थ गर्व करते थे[2]। साधु-संन्यासी अपने ललाट, बाहु, उदर, कण्ठ, वक्ष आदि पर मिट्टी का लेप कर तथा हाथ में कुश धारण कर कुशल नर्तक भाँति अपने प्रचार में संलग्न थे[3]।इस प्रकार यह धर्म साध्य न होकर जीविकोपार्जन का एक साधन मात्र बन गया था । निष्कपट हरिभक्ति के बिना धारणा, ध्यान, निष्ठा, शास्त्राभ्यास आश्रम, जप, तप आदि नटों की निपुणता से शिक्षित कला के समान नाना प्रकार से पेट भरने के उपायमात्र रह गये हैं ।[4]

---

1. जिह्वाग्रेण ललाटचन्द्रजसुधास्यन्दाध्वरोधे मह-
   द्दाक्ष्यं व्यञ्जयतो निमील्य नयने बद्ध्वासनं ध्यायतः ।
   अस्योपात्तनदीतटस्य किमयं भङ्गः समाधेरभूत्-
   पानीयाहरणप्रवत्ततरूणीशङ्खस्वनाकर्णनैः ।। 2/6.
2. गङ्गाद्वारगयाप्रयागमथुरावाराणसीपुष्कर-
   श्रीरङ्गोत्तरकोशलाबदरिकासेतुप्रभासादिकाम् ।
   अब्देनैव परिक्रमैस्त्रिचतुरैस्तीर्थावलीं पर्यट-
   न्नब्दानां कति वा शतानि गमितान्यस्मादृशानेतु कः ।। 2/7.
3. हूंहूंहूमिति तीव्रनिष्ठुरगिरा दृष्ट्याप्यतिक्रूरया
   दूरोत्सारितलोकः एष चरणावुत्क्षिप्य दूरं क्षिपन्
   मृत्स्नालिप्तललाटदोस्तटगलग्रीवोदरोराः कुशै-
   र्दीव्यत्पाणितलः समेति तनुमान्दम्भः किमाहो स्मयः ।। 2/8.
4. विष्णोर्भक्तिं निरूपधिमृते धारणाध्याननिष्ठा
   शास्त्राभ्यासश्रमजपतपः कर्मणां कौशलानि ।
   शैलूषाणामिव निपुणताधिक्यशिक्षाविशेषा
   नानाकारा जठरपिठरावर्तपूर्तिप्रकाराः ।। 2/1.

सामाजिक अवस्था-

धार्मिक विषमता का प्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा । जिससे समाज के मेरूदण्ड वर्णाश्रम की अवस्था नाना प्रकार से डगमगा गयी किसी प्रकार का सत्य, शमदम, शौच, और नियम नहीं रह गया था, शान्ति, क्षान्ति, मैत्री, दया आदि का कहीं पता नहीं था[1] । हिन्दुओं का जातिवाद स्वयं उनके लिये अभिशाप था । ब्राह्मणों का प्रभुत्व उस समय समाज का मुख्य अंग था । प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षण, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी घटनाये ब्राह्मणो की धार्मिक पुस्तकों के आधीन थीं । ब्राह्मणों की इस सामाजिक प्रतिष्ठा ने उनके अहंवाद को तो अवश्य पुष्ट किया, किन्तु साथ ही उन्हें उनके कर्तव्यों से च्युत भी कर दिया[2] । समाज के भाग्यविधाता बनकर नीचों की तरह नाना प्रपंचों में उलझकर चोरी-डकैती आदि निन्दनीय कर्मों को करने में भी उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता था[3] । यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण कहलाने वाले एकमात्र अध्यापन करके अपने कर्तव्यों की इतश्री मान लेते थे, दूसरी ओर क्षत्रिय लोगों ने प्रजा की रक्षा में असमर्थ होकर केवल "राजा" की उपाधिमात्र को सम्बल बनाकर नाममात्र के क्षत्रिय रह गये थे, वैश्यलोग बौद्ध या

---

1. न शौचं नो सत्यं न च शमदमौ नापि नियमो
   न शान्तिर्न क्षान्तिः शिव शिव न मैत्री न च दया ।
   अहो मे निर्व्याजप्रणयिहृदयोऽमी कलिजनैः
   किमुन्मूलीभूता विदधति किमज्ञातचरितम् ।। 2/1.

2. कठिनतरतपस्योज्जृम्भदम्भप्रलम्भा-
   दशनिशनिकठोरं चित्तमस्य द्विजस्य ।
   .... ।। 1/58.

3. यः खलु विविधविधर्मनर्मसचिवयोः सप्रपञ्चपञ्चमहापापपापच्यमानमानसयोः सकललोकोपप्लवमात्रमात्रयोः परमलुण्ठाकयोः कयोश्चिद्ब्राह्मणचेलयोः कुचेलयोः कुकर्मकर्मठयोः .... । चैतन्यचन्द्रोदय-पृ-1

नास्तिक हो गये थे और शूद्रगण अपने को महापण्डित समझकर उपदेश देने को व्याकुल हो रहे थे[1]। चारो वर्णों के समान चारो आश्रमों की अवस्था भी शोचनीय हो गयी थी। ब्रह्मचर्य के वास्तविक मूल्य को न समझकर विवाह करने की योग्यता न होने के कारण लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, गृहस्थ लोग दूसरे आश्रमियों के प्रति यथोचित कर्तव्यपालन से विमुख होकर नाना प्रकार के अधर्मों से युक्त हो स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण में व्यस्त थे। "वानप्रस्थ" शब्द केवल नाममात्र के लिये ही रह गया था, "पंचाशोर्द्धवं वनं ब्रजेत्" अर्थात् पचास वर्ष के बाद वनगमन करे, यह बात केवल पोथी में ही रह गयी थी, संन्यासी का अभिमान करते कुछ लोग संन्यास के पवित्र वेष का अपव्यवहार करते थे। उसे जीविकोपार्जन का साधन बना डाला था।[2]

शैक्षिक व्यवस्था-

शिक्षा की दृष्टि से भी समाज कुछ विशेष प्रगति पर नहीं था, यद्यपि उस समय "नवद्वीप" नव्यन्याय, वेदान्त, तथा व्याकरण आदि की शिक्षा के लिये लोक विख्यात था। दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन के हेतु आते थे। बालक भी विद्वा पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया करते थे। "घट-पट" के विचारकों को लेकर कालयाप

---

1. षट्ठे कर्मणि केवलं कृतधियः सूत्रैकचिह्ना द्विजाः
   संज्ञामात्रविशेषिता भुजभुवो वैश्यास्तु बौद्धा इव।
   शूद्राः पण्डितमानिनो गुरूतया धर्मोपदेशोत्सुकाः
   वर्णानां गतिरीदृगेव कलिना हा हन्त संपादिता ।। 2/2.

2. विवाहयोग्यत्वादिह कतिचिदाद्याश्रमयुजो
   गृहस्थाः स्त्रीपुत्रोदरभरणमात्र व्यसनिनः।
   अहो वानप्रस्थाः श्रवणपथमात्रप्रणयिनः
   परिव्राजोवेशैः परमुपहरन्ते परिचयम् ।। 2/3.

करना ही महागौरव काकार्य समझा जाता था । नवद्वीप में न्यायशास्त्र पढ़ने के लिये नाना देशों के लोग आते थे । नवद्वीप के विश्वविद्यालय में पाठ समाप्त किये बिना कोई सर्वश्रेष्ठ विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाता था । नवद्वीप में गंगादास पण्डित के समान प्रवीण वैय्याकरण, श्रीगदाधर पण्डित और श्रीमुरारि गुप्त पण्डित के समान नैयायिक और कवि, श्री सार्वभौम भट्टाचार्य के समान वेदान्ती थे । किन्तु उस शिक्षा से कोई लाभ भी होता था यह कहना किंचित् कठिन है । समाज काशिक्षित वर्ग पाण्डित्य के अभिमान में परस्पर मूर्खतापूर्ण वाद-विवादों में अपनें अमूल्य-ज्ञान व समय का अपव्यय कर रहा था । कुछ प्रतिभाशाली ब्राह्मण अभ्यासवश उपाधि, जाति, अनुमिति, व्याप्ति आदि शब्दों को जन्म से दुहराते हुये जन-समाज पर अपने पाण्डित्य का सिक्का जमाने में संलग्न थे । भगवत्कथा प्रसंग तो उनसे बहुत दूर भाग गया था । जो जितना ही अधिक कल्पना-निपुण है, उतना ही श्रेष्ठ पण्डित समझा जाता था । ये लोग अपनी-अपनी कल्पना को ही शास्त्र मानते थे ।[1]

विवाह-

कवि कर्णपूर के समय में पाणिग्रहण संस्कार समाज का मौलिक अधिकार था । गृहस्थाश्रम में सभी का प्रवेश अनुमत था । यद्यपि चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में कहीं भी विवाहोल्लेख नहीं मिलता है तथापि नाटक के परिशीलन से इस विषय में किञ्चिद् प्रकाश पड़ता है । चैतन्य महाप्रभु ने युवावस्था में सनातन धर्म का आश्रय लेकर विवाह को स्वीकार किया था । जिससे यह पता चलता है कि उस समय बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी । यौवनारम्भ में ही पाणि-ग्रहण संस्कार सम्पन्न कराये जाने की परम्परा थी । सामान्यत: जनसाधारण के मध्य एक पत्नी व्रत ही प्रसिद्ध था । पुरूष पूर्व पत्नी

---

1. अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले-
-र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्ताप्रसङ्गा अमी ।
ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमा:
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये ज्ञानन्त्यहो तार्किका: ।। 2/4.

के मरणोपरान्त ही द्वितीय पत्नी रखने के लिये स्वतंत्र था । स्वयं चैतन्य महाप्रभु ने पहले लक्ष्मी नाम की कन्या से विवाह किया था, किन्तु उनके मरणोपरान्त विष्णुप्रिया नामकी दूसरी कन्या से विवाह किया[1]। उस समय एकाधिक पत्नी परम्परा नहीं थी । शासक वर्ग और समृद्ध पुरूष एकाधिक पत्नी रख सकता था । स्वयं राजा प्रतापरूद्र ने बहुत पत्नियाँ रखी थीं ।

नारी की स्थिति-

उस समय में नारी की स्थिति समाज में अत्यन्त गौरवशाली थी । उसे लोग श्रद्धा, आदर की दृष्टि से देखते थे । नारी को लोग देवी नाम से पुकारते थे । इस नाटक चैतन्यचन्द्रोदय में भी नारी के लिये देवी शब्द का प्रयोग अत्यधिक दिखालयी देता है ।[2] पत्नी गृहलक्ष्मी पद से अभिरित की जाती थी । विनय ही उनका आभूषण था । जननी पद को प्राप्त कर लेने पर उनका माहात्म्य दुगुना हो जाता था । माता का सम्मान व भरण करना पुत्र का कर्तव्य था । चैतन्य महाप्रभु की माता शची देवी जगतमाता के नाम से जानी जातीं थीं[3]। जननी कहीं भी पुत्र के प्रति अपराधिनी नहीं थी । विराग भी अपनी बहन भक्ति को देवी शब्द से गौरवान्वित करता है[4]। उस समय स्त्री पूर्णतः स्वतन्त्र थी । उसे विभिन्न महोत्सवों में जानें की पूर्ण स्वतन्त्रता थी

---

1. श्रीकृष्णचैतन्य-चरितामृतम्-मुरारिगुप्त- 1/13/18-30.
2. देव्यो विज्ञापयन्ति..................। चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 359.
3. नापराध्यति जगज्जननीयं क्वापि यज्जठरभूस्त्वमधीशः ।
   हन्त मातरि भवन्ति सुतानां मन्तवः किल सुतेषु न मातेषु ।। 1/61.
4. विराग-इयमेव भक्तिदेवी । पृ. - 50. चैतन्यचन्द्रोदयम्.

महोत्सव-

उस समय उत्सव मनाये जाते थे । चैतन्यचन्द्रोदयम् के अनुसार "महाभिषेकोत्सव" चैतन्य महाप्रभु के अभिषेक से सम्बद्ध उत्सव हैं[1]। जगन्नाथ प्रभु के स्नान से सम्बद्ध "स्नान महोत्सव" है[2]। जिसमें जगन्नाथ प्रभु तथा चैतन्य-महाप्रभु का स्नान वर्णित है जगन्नाथ-प्रभु का शरीर स्नान-जल से आर्द्रित है जबकि चैतन्य-प्रभु का शरीर अश्रुप्रवाह से आर्द्र हो रहा है । श्यामवर्ण तथा गौरवर्ण होकर भी दोनों ही प्रभु एक समान प्रतीत होते है[3]। जगन्नाथ-प्रभु की रथ-यात्रा सन्निहित होने पर चैतन्य-प्रभु गुण्डिचामण्डप की सफाई स्वयं करते हैं और अपने साथियों को उत्साहित करते हुये उनसे भी करवाते हैं[4]। स्वच्छता के बाद चैतन्य-प्रभु स्वयं भी नृत्य करते हैं और अद्वैत[5] पुत्र को भी नचाते हैं तथा हरिबोल की ध्वनि करते हैं, जिसे "मानसिक-उत्सव" का नाम दिया गया है[6]। इसी प्रकार जगन्नाथ प्रभु के मुखदर्शन से लोगों के नेत्रों को आनन्द-मिलने के कारण इसे "नेत्रोत्सव" नाम दिया गया है[7]। जगन्नाथ-प्रभु के रथारोहण को "रथ-महोत्सव" नाम दिया गया है जिसमें रथ-पथ पर चैतन्य-प्रभु नृत्य करते हैं[8]। अन्त में भगवती श्री की प्रयाण-यात्रा

---

1. तस्यैव विश्वम्भरदेवस्य प्रकटघटमाननिजावेशविकस्वरपरमप्रभावस्य महाभिषेकमहोत्सवसमारम्भः समुज्जृम्भते । चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. -22
2. श्वः खलु भगवतः स्नानमहोत्सवः । पृ. - 354 वही.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 10/16.
4. वही. - 10/32.
5. चैतन्य-प्रभु के पार्षद.
6. इतीव चित्तोत्सव एष जातो महोत्सवस्यापि महोत्सवो यः ।।,10/40. चैतन्यचन्द्रोदयम्.
7. नेत्रोत्सवः सर्वजनस्य भावी श्वः श्रीपतेः श्रीमुखदर्शनेन । 10/40. वही.
8. अहो, निर्व्यूढो रथोत्सवः । पृ. - 385.

होती है जिसमें यद्यपि जगन्नाथ-प्रभु द्वारका लीला का अनुकरण करते हैं, तथापि रथयात्रा के व्याज से वृन्दावन के स्मारक उद्यानों मे लक्ष्मी के साथ विहार न किये जा सकने के कारण गोपांगनाओं के साथ विहार करने के उद्देश्य से नीलाचल को छोड़कर सुन्दराचल आ जाते हैं जिससे लक्ष्मी कुपित हो जाती हैं । लक्ष्मी के कोप के कारण इसे "कोप-महोत्सव"[1] एवं होरा पंचमी के दिन होने से इसे "होरा-महोत्सव" का नाम भी दिया गया है ।[2]

इस प्रकार चैतन्यचन्द्रोदय नाटक के आधार पर 16 वीं शताब्दी के समाज की लोकजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । क्योंकि कवि रस-स्रष्टा होने के साथ-साथ अपने समय का प्रतिनिधित्व भी करता है । कवि कर्णपूर के नाटक में राजनीतिक परिस्थिति का उल्लेख कहीं नहीं कियागया है । उनका पूर्ण उद्देश्य चैतन्य-महाप्रभु के वचनामृत को हृदयंगम करके उनके उपदेशों को जन-जीवन में चिरस्थायित्व प्रदान करना है ।

---

1. यथाप्रस्तावमेवाय भगवत्याः श्रीदेव्याः कोपप्रयाणमहोत्सवः ।
   चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 387.

2. होरामहोत्सवस्य सामग्रीसमवधानाय गच्छामि । वही. पृ. - 386.

अष्टम-अध्याय

अष्टम-अध्याय

प्रकीर्णक-भाषा, रीति, छन्दोविधिति-

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है । प्राचीन काल से ही भाषा के दो रूप देखे जाते हैं-भाषा तथा बोली । जिस प्रकार आजकल उत्तर भारत में अवधी, भोजपुरी, एवं बृजभाषा व्यवहृत हो रही है [1] तथा खड़ी बोली हिन्दी क प्रयोग लेखन, पठन-पाठन एवं शिक्षित जनो की भाषा के रूप में हो रहा है उसी प्रकार प्राचीन काल में सामान्य जनो के बीच बोली जाने वाली भाषा प्राकृत थी और पढ़े लिखे शिष्ट समाज की भाषा संस्कृत थी । चूँकि संस्कृत-रूपकों की रचना समाज के लिये हुयी तथा समाज का ही उनमें चित्रण था। अतएव संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का सम्मिश्रण उनका वैशिष्ट्य रहा है । नाट्य शास्त्रीय आचार्यों ने रूपक में पात्रों की उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति के अनुसार भाषाओं के प्रयोग का निर्देश वि है । जिसके अनुसार उत्तम एवं मध्यम पुरूष पात्रों की भाषा संस्कृत होनी चाहिये इसके अतिरिक्त उत्तम संन्यासिनी स्त्रियों की भाषा भी संस्कृत होती है ।कहीं-क महारानी, मन्त्रिकन्या और वेश्या की भाषा भी संस्कृत होती है [2]। प्राकृत भाषा प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उद्भूत है [3] एवं स्थान भेद के कारण यह महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी, प्राच्या तथा पैशाची आदि अनेक रूपों मे प्राप्त होती है । संस्कृत रूपक में उत्तम श्रेणी की स्त्रियों की भाषा शौरसेनी होती है, किन्तु गाथा (छन्द) में

---

1. भाषा-विज्ञान के अनुसार अवधी, बृजभाषा एवं भोजपुरी आदि हिन्दी की बोलियाँ है, क्योंकि उनका प्रयोग केवल बोलचाल के रूप में सीमित गया, यद्यपि इनमे साहित्यिक रचना करने की प्रवृत्ति अब पुनः प्राप्त लगी है । सामान्य भाषा विज्ञान, डॉ0 बाबूराम सक्सेना-पृ. -182.

2. (क) पुरूषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ।। साहित्य दर्पण- 6. 158
संस्कृतं सम्प्रयोक्तव्य लिंगनीषूत्तमासु च
देवीमन्त्रिसुता-वेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ।। वही। 6/167.

(ख) दशरूपक- 2/64.

3. दशरूपक- पृ. - 201.

भाषा महाराष्ट्री प्राकृत होनी चाहिये[1]। उत्तम अथवा मध्यम कोटि की दासियों की भी भाषा शौरसेनी होती है ।[2]

कवि कर्णपूर ने उपर्युक्त शास्त्रीय परम्परा को ध्यान में रखते हुये अपने रूपक में पात्रों की प्रकृति के अनुसार संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया है।

संस्कृत-

चैतन्यचन्द्रोदय रूपक के नायक चैतन्य-महाप्रभु एवम् उनके पार्षद,[3] अद्वैत, श्रीवास, नित्यानन्द, सखा[4] जैसे उत्तमकोटि के पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत है । स्त्री पात्रों में शची देवी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग करती हैं तथा भक्ति देवी, मैत्री और गंगा प्राकृत भाषा का प्रयोग करती है ।

प्राकृत-

प्राकृत शब्द प्रकृति शब्द से बना है ।"प्रकृतेः आगतं प्राकृतम्"। प्रकृति के यहाँ पर दो अर्थ लिये गये हैं-{1} प्रकृति अर्थात् मूलभाषा संस्कृत । वैदिक भाषा को भी संस्कृत में लेने पर यह अर्थ उचित और शुद्ध प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा संस्कृ से निकली है । जनसाधारण की भाषा का आधार शिष्ट जनों द्वारा व्यवहृत भाषा ही होती है । शिष्ट जन व्यवहृत भाषा को जनसाधारण प्रयत्नलाघव आदि के कार विकृत बना लेते हैं । वही शुद्ध भाषा का प्राकृत रूप हो जाता है । प्रारम्भ में प्रयुक्त भाषा संस्कृत ही थी । उसका ही विकृत रूप प्राकृत है । प्राकृत को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है--

---

1. शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।
   आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत ।। साहित्य-दर्पण- 6. 159.
2. चेटीनामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसैनिका । वही. 6. 164.
3. पार्षदगण-अद्वैत, श्रीवास, श्रीकान्त, श्रीपति, नित्यानन्द, अवधूत.
4. सखा-आचार्य रत्न, हरिदास, मुरारि, गंगादास, {पृ. -13}

1. प्राचीन प्राकृत या पालि §2§ मध्यकालीन प्राकृत, §3§ परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश । प्राचीन प्राकृत में इनका संग्रह है- 3य शताब्दी पूर्व से 2य शताब्दी ई. तक के शिलालेख, पालि, बौद्ध-ग्रंथ महावंश जातक आदि प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा । मध्यकालीन प्राकृत में इन प्राकृतों का संग्रह होता है-महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, परकालीन जैनग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी, पैशाची परकालीन प्राकृतों में अपभ्रंश है ।

कर्णपूर के रूपक चैतन्यचन्द्रोदय में मध्यकालीन प्राकृतों में से शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया गया है । शची देवी को छोड़कर इनके सभी प्राकृत बोलने वाले पात्र प्रवेशक के अन्तर्गत ही प्राकृत भाषा का प्रयोग करते है । भक्तिदेवी, मैत्री, शचीदेवी, गंगा, स्त्री आदि सभी पात्र शौरसेनी प्राकृत में ही वार्त्तालाप करते हैं । किन्तु पद्य-रचना संस्कृत भाषा में ही करते है ।

प्राकृत वैय्याकरणों के अनुसार शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं-

§क§ शौरसेनी में श, ष, स्, के स्थान पर केवल "स्" का प्रयोग होता है ।[1]

§ख§ स्था धातु से परिवर्तित तिष्ठ को शौरसेनी में "चिट्ठ" आदेश हो जाता है ।[2]

§ग§ त् के स्थान पर द्, थ् के स्थान पर ध् तथा न् के स्थान पर ण् हो जाता है ।[3]

---

1. शषोः सः प्राकृत प्रकाश- 2. 43.
2. "स्थश्चिट्ठः," प्राकृत प्रकाश- 12. 16.
3. §।§ "अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ," प्राकृत प्रकाश- 12. 3
   §।।§ "नोणः सर्वत्र," प्राकृत प्रकाश- 2. 42.

§घ§§।§ क्त्वा के स्थान पर इय आदेश हो जाता है ।[1]

§।।§ क्त्वा के स्थान पर दूण रूप भी मिलता है ।

§ङ.§ स्त्री शब्द को इत्थी आदेश हो जाता है ।[2]

§च§ थ् के स्थान पर § ह् के अतिरिक्त § ध् भी मिलता है ।[3]

§छ§ विदूषक के हास्य के लिये "ही, ही" का प्रयोग किया जाता है ।[4]

§ज§ इदानीं का दाणिं हो जाता है ।[5]

§झ§ भविष्यत अर्थ में प्रत्यय लगने पर स्सि आदेश हो जाता है ।[6]

कर्णपूर के रूपक में प्रयुक्त शौरसेनी प्राकृत के कतिपय उदाहरणों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है-

चैतन्यचन्द्रोदय द्वितीय अंक में चैतन्य-प्रभु के ऐश्वर्य और उनके प्रेमावेश के विषय में भक्तिदेवी का कथन है-

---

1. §।§ "क्त्व इयः" प्राकृत प्रकाश- 12.9.

   §।।§ "क्त्व इय दूणौः" प्राकृत व्याकरण- 8/4/171.

2. "स्त्रियामित्थी"- प्राकृत प्रकाश- 12.22.

3. "थोधः"- प्राकृत व्याकरण- 8/4/267.

4. "ही ही विदूषकस्य"- प्राकृत व्याकरण- 8/4/285.

5. "इदानीमो दाणि"- वही. 8/4/277.

6. "भविष्यति स्सिः"- वही. 8/4/275.

"तदो ईसरभावो दाव ईदिसो तस्स कधिदो । पेम्मावेसो सुणीअदु । एत्थ पूरे तिण्णविहा ज्जेव पुरिसाओ । केवि अणुरत्तओ णावि विरताओ ।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण में संस्कृत के शकार के स्थान पर शौरसेनी में सकार हो गया तथा नकार का णकार, तकार का दकार थ के स्थान पर ध हो गया ।

तृतीय अंक में कलि से व्याप्त दुरवस्था के कारण शारीरिक चिह्नो से प्रेमभक्ति का परिज्ञान करती हुयी मैत्री का कथन है--

"अम्मेह, इयं ज्जेअ पेम्मभत्तीजननी कहिरण लच्छणेण लच्छीअदि ।[2]

इस उदाहरण में संस्कृत के थकार का हकार हो गया है ।

तृतीय अंक में ही राधानुकरण (चैतन्य-प्रभु द्वारा) हेतु सकललोक की हृदय शुद्धि के लिये जाती हुयी प्रेमभक्ति को देखकर मैत्री का कथन-

"देवि, दाणिं तुमं एआइणी कहिं वच्चसि" ।[3]

यहाँ पर संस्कृत के इदानीं का शौरसेनी में दाणिं हो गया है ।

तृतीय अंक में ही चैतन्य-महाप्रभु स्त्रीभाव से नृत्य करेगें ऐसा प्रेम-भक्ति के मुँह से सुनकर मैत्री का कथन है-

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. - 61.
2. वही. पृ. - 77.
3. वही. पृ. - 79.

"कधं दाव ईसरो हुविअ इत्थीभावेण णच्चिस्सदि ।"[1]

यहाँ पर संस्कृत के स्त्री शब्द को शौरसेनी में इत्थी हो गया तथा भविष्यत अर्थ में स्सि आदेश हो गया है । इसी के साथ थकार का धकार भी हो गया है ।

द्वितीय अंक में प्रसन्नचित एवं रोमाञ्चित होकर नाचते हुये दर्जी ‡विदूषक‡ का कथन है-

"तस्य दंशणमएण भेम्हलो भविअ विअशिदणेत्तो ही हीमुओ दिट्ठं-दिट्ठ कम्पिअसव्वगपुल इदो---------------।"[2]

यहाँ हास्य के लिये "ही ही" का प्रयोग किया गया है ।

षष्ठांक में चैतन्य-महाप्रभु के मथुरागमन से दुःखी गंगा रत्नाकर को उनके विषय में बताती है--

"तदो जणणीए ताणं च पमोअत्थं तिण्णदिणाणि तत्थ ठाऊण पूव्वं विअ भअवदीए जणणीए अच्चुदाणन्दजणणीए च पाइदं अण्णं सव्वेहिं सह भुंजिअ ताण---।"[3]

यहाँ पर संस्कृत के "स्था" धातु से क्त्वा प्रत्यय को ऊण और भू धातु से क्त्वा प्रत्यय को शौरसेनी में इअ आदेश हो गया है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. - 80.
2. वही. - पृ. - 55.
3. वही. - पृ. - 184.

महाराष्ट्री प्राकृत-

प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को ही मूल मानकर उसका विस्तार से वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों को उसी प्राकृत के सदृश बनाकर कुछ भिन्न विशेषतायें अलग-अलग दे दी है[1]। प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सर्वोत्तम प्राकृत माना है[2]। संस्कृत रूपकों में जो स्त्रियाँ शौरसेनी प्राकृत बोलती थी, पद्यरचना महाराष्ट्री में ही करती थी[3]। इसके अतिरिक्त संस्कृत रूपकों में प्राकृत पद्यों की रचना प्रायः महाराष्ट्री में ही होती थी।[4]

उपर्युक्त पृष्ठों में शौरसेनी प्राकृत की जो विशेषतायें प्रस्तुत की गयी है उनमें से कुछ महाराष्ट्री प्राकृत के ही अन्तर्गत है। संक्षेप में महाराष्ट्री प्राकृत की मुख्य विशेषतायें अधोलिखित हैं-

---

1. (i) शौरसेन्यामनुक्त कार्यं नवभिः परिच्छेदैः प्रतिपादितप्राकृतानुसारि भवति "शेष महाराष्ट्रीवत्" इत्यत्र महाराष्ट्री पदेन तस्यैव ग्रहणात्।
प्राकृत प्रकाश- प्रस्तावना, पृ. - 3.

(ii) "शेष महाराष्ट्रीवत्"-प्राकृत प्रकाश- 12.35, "अनुक्तं कार्य" महाराष्ट्री-वज्ज्ञेयम्। महाराष्ट्रीयपदेनात्र प्राकृतस्य ग्रहण बोध्यम्।"
टीकाकार मथुरा प्रसाद दीक्षित- प्राकृत प्रकाश- पृ. -250.

(iii) "शेषं प्राकृतवत्"। प्राकृत व्याकरण- 8/4/286.

2. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। काव्यादर्श- 1.35.

3. साहित्य दर्पण- 6.159.

4. प्राकृत विमर्श- डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल, पृ. - 28.

(क) आदि में अविद्यमान- क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य्, और व् वर्णों का प्रायः लोप हो जाता है ।[1]

(ख) असंयुक्त और अनादिस्थ पकार को वकार आदेश हो जाता है ।[2]

(ग) असंयुक्त टकार को डकार आदेश हो जाता है ।[3]

(घ) असंयुक्त और अनादिस्थ डकार को लकार आदेश होता है ।[4]

(ङ) असंयुक्त एवं अनादिस्थ ठकार को ढकार आदेश होता है ।[5]

(च) असंयुक्त और अनादिस्थ ख्, घ्, थ्, ध्, फ्, भ् को हकारादेश हो जाता है ।[6]

(छ) आदि में स्थित य् को ज् आदेश होता है ।[7]

(ज) क्त्वा प्रत्यय को ऊण आदेश हो जाता है ।[8]

(झ) इदम् शब्द को इम् और सुप् परे किम् को क आदेश हो जाता है ।[9]

(ञ) आत्मनेपद तथा परस्मैपद के प्रथमपुरूष एकवचन के त्, तिप् को क्रमशः इ, ए, आदेश हो जाता है ।[10]

(ट) इसी प्रकार सिप् को सि, से एवं थास् को सि, से आदेश हो जाते है ।[11]

---

1. कगचजतदपयवां प्रायो लोपः । प्राकृतप्रकाश- 2.2.
2. पो वः । वही. 2.15.
3. टो डः । वही. 2.20.
4. डस्य च । वही. 2.23.
5. ठो ढः । वही. 2.24.
6. खघथधफभां हः । वही. 2.27.
7. आदेर्यो जः । वही. 2.31.
8. क्त्व ऊणः । वही. 4.23.
9. (I) इदम् इमः । वही. 6.14.
   (II) किमः कः । वही. 6.12.
10. ततिपोरिदेतौ । वही. 7.1.
11. थास्सिपो सिसे। वही. 7.2.

§ठ§ इद् और मिप् को मिहो आदेश हो जाता है ।[1]

§ड§ परस्मैपद एवं आत्मनेद के बहुवचन के प्रत्ययों में झि, झ, को क्रमशः न्ति और न्त, थ, ध्वम्, को क्रमशः ह और इत्था मस्, महिड्. को भो, मु और म आदेश हो जाते है ।[2]

कवि कर्णपूर नाटक चैतन्यचन्द्रोदयम् में प्राकृत भाषा में केवल तीन पद्यों की रचना की गयी है । तृतीय अंक में गर्भांक के अन्तर्गत नेपथ्य में कहा गया है-

"विरइअ ठाणे दाणं सो वणगओ धून्तो ।
कड्डइ सदालिवग्गं हेलाकण्डूलकरदण्डो ।।

अवगाहिअ उण मग्गं सो विविणेसहअरेहिं कलहेहिं ।
विहरइ दाणविणोईं हन्त कथंतत्थ गन्तव्यम् ।।"[3]

प्रस्तुत उदाहरणों में अनादिस्थ एवं असंयुक्त चकार, जकार तथा प, य, वर्णों का लोप हो गया है, असंयुक्त और आदि में अविद्यमान भकार को हकार आदेश हो गया है । इसी प्रकार तिप् को इ आदेश हो गया है । तथा नकार को सर्वत्र णकार आदेश हो गया है ।

तृतीय अंक मे ही भ्रमर से पीड़ित रक्षा के लिये पुकारती राधा से उसकी सखियाँ परिहास करती हैं--

---

1. इइमिपोर्भिः । प्राकृत प्रकाश- 7.3.
2. न्तिहेत्थामोमुमा बहुष । वही. 7.4.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/40.41.

मुक्किअ लवगंलदिअं चवलो महसूअणो एसो ।
पिअसहि अण्णिअदपेम्मो तुह मुहगन्धेण अन्धिओ भमई ।।[1]

यहाँ पर भी अनादिस्थ एवं असंयुक्त क, द, य, व वर्णों का लोप, असंयुक्त और अनादिस्थ पकार का वकार, असंयुक्त एवं अनादिस्थ ख्, ध्, का, ह, न का ण, श्, का स् और तिप् का इ आदेश हो गया है ।

रीति-

रीति अंग रचना की भाँति, पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना में सहायक हुआ करती है ।[2] संस्कृत काव्यशास्त्र में शैली के स्थान पर रीति शब्द का प्रयोग किया गया है । आचार्य दण्डी एवं आचार्य कुन्तक रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं ।[3] काव्य में रीति को आत्म-तत्त्व के रूप में मानने वाले आचार्य वामन के अनुसार विशेष-प्रकार की पद रचना "रीति कहलाती है ।[4] आचार्य वामन का विशेष पद से अभिप्राय रीतियों के अन्तर्गत वक्ष्यमाण माधुर्यादि गुणों से है ।[5] साहित्यदर्पणकार के अनुसार "रीति" और "सघटना" एक ही वस्तु है । रीति अथवा संघटना रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसलिये साहित्यदर्पणकार ने इसे रसभावादि की उपकर्त्री माना है ।[6] काव्यप्रकाशकार ने रीति

---

1. चैतन्य चन्द्रोदयम्- 3/48.
2. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्- साहित्य दर्पण- पृ. - 658.
3. (i) अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् । काव्यादर्श- 40.
   (ii) वक्रोक्तिजीवित- 1.24.
4. विशिष्टा पदरचना रीतिः । का. सू. वृ. - 1.2.7.
   विशेषवती पदानां रचना रीतिः । वही. वृत्तिभाग.
5. विशेषो गुणात्मा । का. सू. वृ. - 1.2.8.
   वक्ष्यमाण गुणरूपो विशेषः । वही. वृत्तिभाग.
6. उपकर्त्री रसादीनां- साहित्य दर्पण- पृ. - 658.

तत्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था क्योंकि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में "वृत्ति" और "रीति" का रहस्य वर्णसंघटनावैशिष्ट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।[1]

रीतियों की संख्या के विषय में आचार्यों में वैमत्य है । आचार्य दण्डी के अनुसार वैदर्भ मार्ग एवं गौड मार्ग प्रमुख है[2] । आचार्य वामन ने रीतियों का वैदर्भी गौडी और पांचाली के रूप में त्रिधा विभाजन किया है[3] । कतिपय परिवर्तनों के सा आचार्य कुंतक इन्हें क्रमशः सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग एवं मध्यम मार्ग के नाम से अ करते है[4] । आचार्य भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में वैदर्भी, गौडी, पांचाली, अवन्तिका लाटी एवं मागधी के रूप में रीतियों को षोढ़ा विभक्त किया है[5] । परन्तु रीतिवा के प्रवर्तक आचार्य वामन "पांचाली" रीति के प्रथम प्रवर्तक है । वैदर्भी, गौडी और पांचाली के अतिरिक्त "लाटी अथवा" "लाटीया" को चौथी रीति के रूप में स्वीक करने वाले आचार्य रूद्रट है । इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी, पांच और लाटी नामक चार प्रकार की रीतियों का प्रतिपादन किया है[6] । तथा कई शत ब्दियों में प्रवर्तित रीतिचतुष्टय-तत्त्व को काव्य के एक तत्त्वरूप में स्वीकार किया है

---

1. "वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्त वृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपिगताः श्रवण-गोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत
2. तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ । काव्यादर्श- 40.
3. सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पांचाली चेति । का. सू. वृ. 1.2.9.
4. वक्रोक्ति जीवित- 1.24.
5. वैदर्भी चाथ पांचली गौडीयावन्तिका तथा ।
   लाटीया मागधी चेति षोढा रीति निगद्यते ।। सरस्वतीकण्ठाभरण- 2.52.
6. --------------------------------सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ।
   वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा ।।साहित्य दर्पण-9.1.2.

वैदर्भी रीति-

माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा अल्प समासयुक्त ललित रचना वैदर्भी रीति कही गयी है[1]। दूसरे शब्दों में वैदर्भी रीति से तात्पर्य कवि की उस काव्य-रचना से होता है जो सरल, सुबोध एवं सरस होने के कारण सर्वजन संवेद्य हो। वैदर्भी रीति में जहाँ ललित रचना के लिए माधुर्य गुण की अपेक्षा होती है वहीं पर सरल एवं सुबोध रचना के लिये प्रसाद गुण भी अपरिहार्य है। इस प्रकार वैदर्भी रीति का प्रमुख वैशिष्ट्य माधुर्य एवं प्रसादगुण व्यंजक वर्ण है। अतएव इसी प्रसं में माधुर्य एवं प्रसादगुणों का संक्षिप्त विवेचन करना असंगत न होगा।

जिससे अन्तः करण द्रवित हो जाये ऐसा आनन्द विशेष "माधुर्य" कहलाता है[2]। अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त वर्ण ट, ठ, ड, ढ, को छोड़कर समस्त स्पर्श वर्ण (क से लेकर म पर्यन्त), ह्रस्व रकार और णकार आदि वर्ण माधुर्य-व्यंजक है। इसके अतिरिक्त समासरहिता अथवा अल्प समास रचना भी माधुर्य गुण व्यंजक है।[3]

सहृदय-हृदय की ऐसी निर्मलता जो कि चित्र मे उसी भाँति व्याप्त हो ज जिस प्रकार सूखी लकड़ी में आग, उसे प्रसाद गुण कहते है। यह प्रसाद सभी रसों का धर्म अथवा स्वरूप विशेष है। और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुअ करती है[4]। सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाये ऐसे सरल और सुबोध पद प्रसाद गु व्यंजक होते है।[5]

---

1. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। साहित्य दर्पण- 9/2-3.
2. चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्य दर्पण- 8/1.
3. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।। काव्य प्रकाश- 8/74.
4. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।। साहित्य दर्पण- 8/7. 8.
5. शब्दास्तद् व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः। वही. 8/8.

कर्णपूर वैदर्भी रीति के कवि हैं । इनके रूपक में प्रसाद गुण से युक्त वैदर्भी रीति की प्रमुखता है । इनके रूपकों की पद-रचना दीर्घसमासों एवं क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से रहित है ।

यहाँ पर उनके रूपक चैतन्यचन्द्रोदय से स्थालीपुलाकन्यायेन प्रसाद गुण युक्त वैदर्भी रीति के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

चैतन्यचन्द्रोदयम् द्वितीय अंक में कलि से व्याप्त संसार को देखकर दुःखी विराग की मनोदशा का वर्णन कवि ने सीधे सादी प्रसाद व्यंजक पदावलि में किया है-

"अहो, अमी यदन्योन्यं विवदन्ते, तदस्य तत्वमवगन्तव्यम् । (इति निभाल्य अहो, कपिल-कणाद-पातंजल-जैमिनिमतकोविदाः एते अन्योन्यं विवदन्ते । भगवत्तत्वं न केऽपि जानन्ति । तदितो गन्तव्यम् । (इति पुनः कतिचित्पदानि गत्वा ।) अहो दक्षिणस्यां दिशि पतितोऽस्मि । यदमी आर्हत-सौगत-कापालिकाः प्रचण्डा हि पाखण्ड एते पाशुपता अपि हतायुषो मां हनिश्यन्ति । तदितः पलायनमेव शरणम् । (इत्युपसृत्य कियद्दूरं गत्वा किंचिदवलोक्य) अहो, अयं साधुर्भविष्यति, यतः खलु नदीतटनिकटप्रक शिलापट्टघटितसुखोपवेशः क्लेशातीतो गुणातीतं किमपि ध्यायन्निव समयं गमयति । तद निरूपयामि ।"[1]

तृतीय अंक मे भ्रमरों से पीड़ित राधा को देखकर सखियों की परिहासोचित प्रसादगुण व्यंजक पदावलि का उत्कृष्ट उदाहरण है--

"मुक्त्वा लवगंलतिकां चपलो मधुसूदन एषः ।
प्रियसखि अनियतप्रेमा तव मुखगन्धेनान्धो भ्रमति"।।[2]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय- पृ. - 45.
2. वही. - 3/48.

तृतीय अंक में ही कृष्ण के रूप को देखकर मुग्ध राधा का कथन भी प्रसाद गुण व्यंजक है-

"श्यामीकरोति भुवनं वपुषा दिगन्तान्
पूर्णेन्दुमण्डलमयीकुरूते मुखेन ।
वाचा सुधारसभृतो विदधाति कर्णान्
दृष्ट्या नभोऽम्बुजमयीकुरूते किमेतत् ।।[1]

हास्य रस के प्रसगं में कवि ने प्रसादगुण व्यंजक पदावलि का प्रयोग किया है-

ललिता- "अये बटुक तव वयस्योऽस्य वनस्य कः ।
कुसुमासव- ललिते, अधिकार्ययम् ।
ललिता- भवति, एवं न्वेतद् अधिकोऽरिर्यदि न भवेत्तदा
कथमस्यत्प्रियसख्या एतस्य वनस्यैतादृश्यवस्था ।
कुसुमासव- ललिते, पाण्डित्यं प्रकाशयसि । भवतु भवतु । अस्मद्वयस्य एतस्य
वनस्याधिकोऽरिरेव । एतद्वनं तव
प्रियसख्याः कथं जातम् ।
ललिता- उपभोग एव प्रमाणम् । अन्यथा कथं निःशंक,
कुसुमान्याहरामः ।"[2]

इस नाटक के चतुर्थअंक के पूर्वार्द्ध में वात्सल्य रस तथा उत्तरार्द्ध में करूण के प्रसंग में तथा स्थान-स्थान पर भक्ति रस एवं अद्भुत रस के प्रसंग में प्रसादगुण से संयुक्त पदरचना दृष्टिगोचर होती है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदय- - 3/50
2. वही. पृ. - 109.

कवि कर्णपूर के इस नाटक में माधुर्यगुण से युक्त वैदर्भी रीति के उदाहरण भी अनेकों स्थल पर प्राप्त होते हैं । चतुर्थ अंक मे सायाह्नकाल में अस्ताचल की ओर जाते हुये सूर्य को देखकर अद्वैत के कथन में माधुर्यगुणमयी पदावलि के दर्शन होते हैं-

सायाह्नसंगसुखलुप्तधियः प्रतीच्याः
शोणाभ्रवाससि सगुरच्छवसिते नितम्बात् ।
कांचीकलापकुरुविन्दमणीन्द्ररूपी
कालक्रमाद्दिनपतिः पतयालुरासीत् ।।[1]

प्रस्तुत पद्य में कोमल एवं अपने अपने वर्गों के पंचम्यन्त वर्णों से युक्त माधुर्य-व्यंजकवर्णों का प्रयोग दृष्टव्य है । इसी प्रकार चैतन्य-प्रभु के अदृश्य-गमन के बाद दुःख से अभिभूत अद्वैत की उक्ति में भी माधुर्य गुण व्यंजक पदावलि का प्रयोग किया गया है-

इह ग्रामे को वा स्थगयतु तमात्मप्रकटनं
स किं वा स्वात्मानं स्थगयितुमपीशः प्रभवतु ।
अपह्नोतुं शक्यो न भवति जनैश्चण्डकिरणः
कथंकारं व्योम्नि स्वमपि स दिने व्यन्तरयतु ।।[2]

पंचम अंक में यमुना की स्तुति का वर्णन माधुर्य व्यंजक पदों में किया गया है-

चिदानन्दभानोः सदा नन्दसूनोः परप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री
अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री पवित्रीक्रियान्नो वपुर्मित्रपुत्री ।।[3]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/4.
2. वही। - 4/16.
3. वही. - 5/10.

यहाँ पर चैतन्य-प्रभु की इस स्तुति में कवि ने कोमल-कान्त-पदावलि का प्रयोग किया है । वर्ण अपने-अपने वर्ग के पंचमयन्त से संयुक्त है और ह्रस्व रकार का सुन्दरता से प्रयोग किया गया है ।

नवम अंक में यमुना-तटवर्त्ती कानन की शोभा देखते हुये अनुराग के वशीभूत चैतन्य-महाप्रभु की अवस्था का वर्णन कवि ने माधुर्यगुण व्यंजक पदावलि के अन्तर्गत ही किया है-

विलपति करूणस्वरेण देवे जल-
धरधीरगभीरनि:स्वनेऽपि ।
चिरमनुविलपन्ति बाष्पकण्ठा:
क्वचन च लास्यमपास्य नीलकण्ठा: ।।[1]

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त कवि कर्णपूर के इस नाटक में माधुर्य गुण से युक्त वैदर्भी रीति के बहुत से स्थल हैं परन्तु विस्तार भय से उनका प्रदर्शन नहीं किया जा रहा है ।

गौडी रीति-

गौडी वह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण समास-प्रचुर उद्भट रचना कहा गया है । अर्थात् ओज को प्रकाशित करने वाले, परुष वर्णों से युक्त, विकट बन्ध एवं समास-बहुला पदरचना गौडी रीति कही जाती है[2] । द्वित्व वर्गों ﴾ क्क, च्च, आदि﴿, संयुक्त वर्णों ﴾क्ख, ग्घ, द्ठ आदि﴿, रेफ युक्त वर्णों ﴾ र्क, र्च, र्ट, आदि ﴿, रकार युक्त वर्णों ﴾ क्र, द्र, प्र, आदि﴿ एवं ट, ठ, ड, ढ, श, ष से बनें पदों का आधिक्य तथा दीर्घसमासा रचना ओजोगुण की व्यंजक होती है ।[3]

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 9/27.
2. ओज: प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर: पुन: ।
समासबहुला गौडी-----------------।। साहित्य दर्पण- 9/3-4.

चैतन्य-चन्द्रोदयम् के प्रथम अंक में अधर्म कलि को क्रोध के बारे में बताता है-

"उग्रैरूग्रैस्तपोभिः शमदमनियमैर्धारणाध्यानयोगः -
युक्ताश्चापारमेष्ठ्यं त्रिभुवनविभवोच्छर्दितान्नावबोधाः ।
कन्दर्पादीनमित्रानपि सहजतया दुर्जयानेय जित्वा
येन स्पृष्टा निपेतुः कथयाक्थमसौ केन कोपो विजेयः ।।[1]

कवि ने प्रस्तुत पद्य में क्रोध का वर्णन आजोगुण-व्यंजक पदावलि से युक्त गौडी रीति में किया है । इसी प्रकार द्वितीय अंक में कलि से व्याप्त संसार में पापी तपस्वी का वर्णन भी कवि ने परूष वर्णों की बहुलता से युक्त एव दीर्घ-समासा पदावलि से युक्त गौडी रीति में किया है-

"हूंहूंहूमिति तीव्रनिष्ठुरगिरा दृष्ट्याप्यतिक्रूरया
इरोत्सारितलोकः एष चरणावुत्क्षिप्य दूरं क्षिपन् ।
मृत्स्नालिप्तललाटदोस्तटगलग्रीवोदरोराः कुशी-
र्दीव्यत्पाणितलः समेति तनुमान्दम्भः किमाहो स्मयः"।।[2]

तृतीय अंक में गोपीश्वर पूजा के लिये वृन्दावन में पुष्पचयन करती हुयी राधा से श्रीकृष्ण की उक्ति में परूष वर्णों के प्रयोग द्वारा ओजोव्यंजक पदावलि का प्रयोग किया गया है-

"अयि ललिते, दुर्ललितेऽद्य: के तव साहसिक्यशिक्षामेताम् । कस्ते मदो मदोकसि वृन्दावने कथं स्वातन्त्र्यमारभ्यते । वारंवारमेव मे वनमागत्य गत्यनवस्थया

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/33.
2. वही. - 2/8.

तत इत इतरजनीवद्गात्रगर्वेण फलकुसुममञ्जुललताविटपभङ्गमाचरन्त्यश्चरन्त्यः परितो-ऽपरितोषं मम जनयन्ति । नयं तिरस्कृत्य मामवजानन्ति च भवत्यः । भद्रमद्य विलोकिताः स्थः । अतः परमस्य फलं भुज्यताम् ।"[1]

इसी प्रसंग में पुष्पचयन एवं वार्त्तालाप के दुस्साहस के कारण क्रोधित सुबल के कथन में ओजोगुण व्यंजक पदावलि का प्रयोग किया गया है-

"वक्त्रं वा द्विजराजहिंसि मदिरालोले दृशो रोचिषा
मूर्तिः कांचनहारिणी न विरमो गुर्वङ्गनासङ्गतः।
संगी पंचम एष पंचविशिखः शुद्धिस्तथापीह वो
यन्नामाप्यखिलाघनाशि स परं दुष्टोऽस्मदीयः सखा" ।[2]

दशम अंक में लक्ष्मी के कोप-चातुर्य के वर्णन में कवि ने ओजोगुण व्यंजक पदावलि से युक्त गौडी रीति का ही प्रयोग किया है-

"अस्याः पश्यत भो मदस्य महिमा दासीकुलेनेश्वरी
गर्वोत्सेकमदोद्धरेण यदमी [illegible]ः कटीरोधसि ।
मुख्या एव जगत्पतेः परिजनाः प्रत्येकमाकर्षिता
पात्यन्ते स्म निजेश्वरीपदपुरः प्रापय्य चौरा इव ।।[3]

यहाँ पर कवि ने विकट-बन्ध, संयुक्त वर्णों का प्रयोग करके गौडी रीति का ही आधिपत्य दर्शाया है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 107-108.
2. वही. - 3/59.
3. वही. -10/67.

पाञ्चाली रीति-

पाञ्चाली वह रीति है जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यंजक वर्णों से ऐसी पदरचना कहा गया है जिसमें पाँच या छः पदों के समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता ।[1]

प्रथम अंक में चैतन्य-प्रभु के महाभिषेकोत्सव से पूर्व आनन्द कलकल का वर्णन पाञ्चाली रीति में किया गया है-

"पश्य । भूसुरसुरसतरूणीगणमुखमुखरितमंगलोलूलुध्वनिसहचरचरमपरितोषसमुच्च-रज्जयजयनिस्वनानुवादिवादित्रसमूटनिर्घोषपरिपोषविशृंखलशंखघण्टारवैरवैयग्रयतः श्रवणा-वटघटमानसुधारसासार इव कश्चन महोत्सवसमयोऽप्युन्मीलति ।"[2]

चतुर्थ अंक में चैतन्य-प्रभु के साथ नृत्य-क्रिया में प्रवृत्त होने के पश्चात् उनकी अलौकिकता के वर्णन में अद्वैत की उक्ति में पाञ्चाली रीति का दर्शन होता है-

"वस्तुतस्तु कोटिकोटिजगदण्डघटघटनविघटननाटकपरिपाटीपाटवस्य निजचरितललितकीर्तिसुधाधावितजगज्जनहृदयावटघटमानतमःकाटवस्य भगवतस्तथैव लीलायितं खलु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्येतिह्यादिप्रमाणनिवहैरपि न प्रमातुं शक्यते विना तस्यैवानुग्रहजन्यज्ञान विशेषम् । तेन तदानींतनमलौकिकचमत्कारकारणम-स्मन्निष्ठमपि नटनलीलायितंनास्माकमनुभवगोचरस्तद्व्यवसितम् ।"[3]

---

1. ------------------------वर्णैः शेषैःपुनर्द्वयोः ।
   समस्तपंचषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ।। साहित्य-दर्पण- 9/4.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ. - 21.
3. वही। पृ. - 128-29.

चतुर्थ अंक में ही श्रीवास-प्रांगण में कीर्त्तनरूप मंगल आयोजन के वर्णन के प्रसग में भी पाञ्चाली रीति में पदयोजना की गई है-

"तदिदानी हिमकरकरकलधौतजलधौते श्रीवासांगण परिसरे भगवत्सकीर्त्तनमंगलमंगी कुर्वन्तु भवन्तः ।"[1.]

इस प्रकार कवि कर्णपूर की पदसङ्घटना का त्रिधा विभाजन एवं उसका विवेचन करने के उपरान्त हम इसनिष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कवि ने भक्ति रस, करूण, हास्य, एवं वात्सल्य रस के प्रसगो में तथा प्रकृति के कुछ सुकुमार रूपों के वर्णन में वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है । इसी प्रकार रौद्र रस के प्रसगों एवं कलियुग के रूप-वर्णन में गौडी रीति का प्रयोग किया है । चैतन्य-महाप्रभु के अलौकिक रूप का वर्णन करने में कवि ने पाञ्चाली रीति का आश्रय लिया है ।

छन्दोविचिति-

सहृदयहृदयाह्लादिनी कवियों की रचना गद्य एवं पद्य के रूप में द्विधा दृष्टिगोचर होती है । गद्यमयी काव्य रचना केवल व्याकरण के द्वारा शासित होती है परन्तु कवि की पद्यमयी वाणी पर व्याकरण शास्त्र एवं छन्दः शास्त्र दोनोंअंकुश रहता है ।

मेदिनी कोश के अनुसार छन्दः शब्द का प्रयोग पद्य, वेद, स्वेच्छाचार एवम् अभिलाष अर्थ में होता है[2.]। इसकी निष्पत्ति "चदि आह्लादने" (भ्वा. प. से.) धातु से असुन् प्रत्यय लगने पर होती है । "चन्देरादेश्च छः" (उ. 48-64)[3.] सूत्र से चन्द के च् को छ् आदेश होकर छन्दः बनता है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- पृ० - 132.
2. छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः मेदिनीकोष.
3. सिद्धान्त कौमुदी तत्वबोधिनी टीका, पृ. - 641.

छन्द की गणना वेद के षड्अंगों में की जाती है, अतएव इसकी महिमा अनादिकाल से अक्षुण्ण है । महर्षि पाणिनि ने अपनी शिक्षा में छन्द को वेद का चरणयुगल कहा है ।[1] इसी प्रकार आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में छन्द को काव्यपुरुष का रोमसमूह बताया है ।[2] भरतमुनि ने नाट्य वाङ्मय में छन्द को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । उनके अनुसार बिना छन्द के शब्द नहीं होते तथा छन्द भी बिना शब्द के नहीं होता । इस प्रकार दोनों के संयोग से नाट्य-सौन्दर्य निखरता है ।[3]

कर्णपूर के नाटक में कुल 468 पद्य हैं जिनमें 13 प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है ।

पुष्पिताग्रा-[4]

कर्णपूर ने अपने नाटक का प्रारम्भ पुष्पिताग्रा छन्द से किया है । इस छन्द का प्रथम गण नगण होता है । नगण का देवता स्वर्ग है वह सदा सुख देने वाला होता है ।[5] कवि ने चैतन्यचन्द्रोदयम् के 13 पद्यों में इस छन्द का प्रयोग किया है । चैतन्य-महाप्रभु के महात्म्य[6] एवं शक्ति वर्णन[7] तथा नवमांक में चैतन्य की कृष्ण-विरहावस्था वर्णन में इस छन्द का प्रयोग किया गया है ।

---

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य---------। वृत्तरत्नाकर की भूमिका- पृ. - 5.
2. रोमाणि छन्दांसि । काव्यमीमांसा,
3. छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दश्शब्दवर्जितम् ।
   एवं तूभयसंयोगो नाट्यस्योद्द्योतकः स्मृतः ।। नाट्य शास्त्र- 14/45.
4. अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा- वृत्त० र. 4/10
5. नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः । वृत्तरत्नाकर-पृ. -6.
6. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/14.
7. वही० - चतुर्थांक/ 43.44.

शार्दूलविक्रीडति-[1]

कवि ने अपने नाटक में सर्वाधिक पद्यों की रचना वार्णिक छन्दों में इसी छन्द के अन्तर्गत की है । इस छन्द में रचे हुये 84 पद्य प्राप्त होते हैं । आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार शार्दूलविक्रीडति छन्द का प्रयोग राजाओं के शौर्य वर्णन के प्रसंग में करना चाहिये[2] किन्तु कवि कर्णपूर ने इस छन्द का प्रयोग प्रायः सभी अर्थों में किया है । प्रथमांक में कलि तथा अधर्म जहाँ चैतन्य-प्रभु के जन्म से भयभीत होते है और अपने युग की समाप्ति स्वीकार करते हैं, कवि नें 10 पद्यो की रचना शार्दूल-विक्रीडिति छन्द में की है[3] । इसके अतिरिक्त इस नाटक में कलि से व्याप्त संसार का वर्णन[4] गर्भांक में चैतन्य-प्रभु द्वारा राधा रूप का अनुकरण[5] चैतन्य-महाप्रभु द्वारा संन्यास-ग्रहण के बाद मित्रगणों का विरह-वर्णन,[6] तथा चैतन्य-प्रभु को कृष्ण-भक्ति वर्णन,[7] के प्रसंग में इसी छन्द का प्रयोग किया गया है ।

वसन्ततिलका-[8]

कवि के नाटक चैतन्य-चन्द्रोदयम् में इस छन्द में रचे हुये 60 पद्य प्राप्त होते हैं । आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि वसन्ततिलका छन्द वीर और रौद्र रसों के संकर वर्णन में अधिक उपयुक्त होता है[9] ।

---

1. सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् । वृत्तरत्नाकर- 3. 101.
2. शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितमतम् । सुवृत्ततिलक (क्षेमेन्द्र, चौ. सं. सी. 1968 ई0) 3. 22.
3. चैतन्यचन्द्रोदयम्- प्रथमांक/ 4, 10, 13, 20, 37, 40, 46, 47, 48, 49,
4. वही. - 2/2-8.
5. वही. - तृतीयांक/ 42.
6. वही. - 4/ 17, 20, 32, 36,
7. वही. - पंचमांक, 8/37, 24,
8. उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगः, वृत्तरत्नाकर- 3/79.
9. वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः । सुवृत्ततिलक-3. 19.

द्वितीय अंक में कलियुग वर्णन,[1] चतुर्थ अंक में चैतन्य-प्रभु के अदृश्य-गमन के पश्चात् उनके विरह में विलाप करते मित्रगण,[2] अष्टम अंक में भक्तगणों का वर्णन,[3] आदि में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग कियागया है ।

मन्दाक्रान्ता-[4]

कवि ने इस छन्द में 43 पदों की रचना की है । प्रथम अंक में चैतन्य के महाभिषेक अवसर पर इस छन्द का प्रयोग किया गया है ।[5] ईश्वर के महात्म्य का वर्णन,[6] स्तुति-वर्णन,[7] भक्ति-वर्णन,[8] वृन्दावन-गमन,[9] तथा गुण्डिचा-मण्डप की सफाई कावर्णन,[10] मन्दाक्रान्ता छन्द में ही किया गया है ।

शिखरिणी-[11]

कर्णपूर के नाटक में शिखरिणी छन्द में रचित 39 पद्य प्राप्त होते हैं । आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार शिखरिणी छन्द का प्रयोग किसी विषय की सीमा निर्धारण के प्रसंग में होता है ।[12] द्वितीय अंक में कलि से व्याप्त संसार मे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासी जनो की अवस्था का वर्णन इसी छन्द में किया गया है ।[13]

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/10.
2. वही॰ - 4/23, 24, 25, 26,
3. वही. - 8/51॰
4. मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत् । वृत्तरत्नाकर- 3/97.
5. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/34.
6. वही॰ - 1/35.
7. वही. - 6/13.
8. वही. - 6/34.
9. वही॰ - 9/18.
10. वही. - 10/32, 33,
11. रसै रूद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी- वृत्तरत्नाकर- 3. 93.
12. उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणीमता- सु. ति. - 3. 20.
13. चैतन्यचन्द्रोदयम- 2/3.

तृतीय अंक में वृन्दावन की रमणीयता का वर्णन,[1] चैतन्य-प्रभु की कृष्ण-प्रेम में उन्मुक्त-दशा का वर्णन,[2] इसी छन्द में किया गया है ।

इन्द्रवज्रा-[3]

कवि ने इन्द्रवज्रा में छन्द में 27 पद्यों की रचना की है । तृतीय अंक में चैतन्य-प्रभु लोगों में राधा भाव जगाने के लिय राधा का अनुकरण करते हैं इसका वर्णन इसी छन्द में किया गया है[4] । इसके अतिरिक्त चैतन्य और वक्रेश्वर के नृत्य का वर्णन,[5] ब्रह्म-तत्त्व का वर्णन,[6] कृष्ण-वियोग में चैतन्य की विरह-दशा का वर्णन,[7] इन्द्रवज्रा छन्द में किया गया है ।

उपजाति-[8]

कवि ने उपजाति छन्द में 24 पद्यों की रचना की है । क्षेमेन्द्र के अनुसार सुन्दर नायिका के रूप-वर्णन बसन्त तथा उसके अंगीभूत पुष्पपत्रादि के वर्णन में उपजाति छन्द बहुत सुन्दर होता है[9] । परन्तु कवि कर्णपूर ने इस छन्द का प्रयोग अन्यत्र भी अत्यन्त सुन्दरता के साथ किया है । चैतन्यचन्द्रोदय में नवमांक में चैतन्य-महाप्रभु के दर्शनार्थ एकत्रित जन-समूह का वर्णन,[10] जगन्नाथ-प्रभु के उत्सवों का वर्णन,[11] लक्ष्मी के कोप-प्रयाण का वर्णन,[12] इसी छन्द में किया गया है ।

---

1. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/35.
2. वही. - 5/4.
3. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, वृत्तरत्नाकर- 3/28.
4. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 3/10.
5. वही. - 4/8.
6. वही. - 6/35. 36.
7. वही. - 9/23, 24,
8. अनन्तरोदीरित लक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः, वृत्तरत्नाकर-3/3.
9. श्रृंगारालम्बनोदार- नायिकारूपवर्णनम्
   बसन्तादि तदंगं च, सच्छायमुपजातिभिः । सु. ति.
10. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 9/14, 16.

उपेन्द्रवज्रा-[1]

चैतन्यचन्द्रोदय में उपेन्द्रवज्रा में कुल 21 पद्यों की रचना की गयी है । प्रथम अंक में चैतन्य के जन्म से भयभीत कलि की चिन्ता इसी छन्द में दर्शायी गयी है[2] । द्वितीय अंक में चैतन्य-महाप्रभु के अलौकिक चमत्कारों का वर्णन[3] अष्टम अंक में चैतन्य-प्रभु द्वारा राजा प्रतापरूद्र से मिलने से इन्कार कर दिये जाने पर चिन्तित राजा के कथनों में[4] इसी छन्द का प्रयोग किया गया है ।

मालिनी-[5]

इस छन्द का प्रयोग कवि ने अपने नाटक में 18 पद्यों मे किया है । आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार इस छन्द का प्रयोग सर्ग के अन्त में करना चाहिये[6] । परन्तु कर्णपूर ने इसका प्रयोग यथावसर किया है । प्रथमांक में चैतन्य के गुणों के वर्णन में[7] द्वितीय अंक में वृन्दावन में मुरली-ध्वनि के वर्णन प्रसंग में[8] अष्टम अंक में जगन्नाथ-प्रभु की रथयात्रा में रथ के आगे नृत्य करने से श्रान्त चैतन्य-प्रभु का वर्णन[9] इसी छन्द में किया गया है ।

---

1. उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ- वृत्तरत्नाकर- 3/29.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/17.
3. वही. - 2/18-19.
4. वही. - 8/27-28.
5. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः, वृत्तरत्नाकर- 3/87.
6. कुर्यात्सर्गस्यं पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् । सु. ति. - 3/19.
7. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/21-23.
8. वही. - 2/32-33.
9. वही. - 8/50.

स्वागता[1]-

इस छन्द में कवि ने कुल 17 पद्यों की रचनाकी है । षष्ठांक में रेमुणा नगरवर्ती वेत्रधारी भगवान् की मूर्त्ति की स्तुति-वर्णन,[2] नवम अंक में गोपांगनाओं के दर्शन से उत्पन्न आनन्द से विभोर प्रभु का वर्णन,[3] तथा दशम अंक में जगन्नाथ-प्रभु औरचैतन्य-प्रभु का गुण्डिचा मन्दिर और उद्यान में प्रस्थान का प्रसंग इसी छन्द में निबद्ध किया गया है ।

स्रग्धरा[4]-

स्रग्धरा छन्द में कवि ने 12 पद्यों की रचना की है । प्रथम अंक में चैतन्य-महाप्रभु के यश का वर्णन,[5] द्वितीय अंक में मायाजाती पुरूषों को देखकरविराग का कथन दशम अंक में भगवद्-कीर्त्तन से पूर्व प्रांगण प्रदेश की स्वच्छता का वर्णन,[7] स्रग्धरा छन्द में ही कियागया है ।

वंशस्थ[8]-

इस छन्द में कर्णपूर ने अपने नाटक में कुल 8 पद्य रचे हैं । प्रथम अंक में कलि अपने विनाश का समय आया जानकर अधर्म से कहता है,[9] जिसका वर्णन इसी वंशस्थ में छन्द में किया गया है ।

---

1. स्वागतेति रनभाद्गुरूयुग्मम्- वृत्तरत्नाकर- 3/39.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 6/9.
3. वही.- 9/21.
4. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् । वृत्तरत्नाकर-3. 104.
5. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/6-7.
6. वही.- 2/5.
7. वही.- 10/37-38.
8. जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ- वृत्तरत्नाकर- 3/46.
9. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/12.

हारिणी-[1]

इसमें रचित 6 पद्य मिलते हैं । प्रथम अंक में चैतन्य-प्रभु के संन्यास-ग्रहण से दुःखी मित्रगण विलाप करते हैं,[2] पंचम अंक में संन्यास-ग्रहण हेतु अदृश्य-गमन के बाद चैतन्य के पुनः अद्वैतपुर आगमन से शची देवी भाव-विभोर होकर उन्हें वापस जाने से रोकती हैं जिन्हें चैतन्य समझाने का प्रयत्न करते हैं[3] । अष्टम अंक में जगन्नाथ-रथ यात्रा का वर्णन,[4] भी इसी छन्द में निबद्ध किया गया है ।

भुजंग-प्रयात-[5]

इस छन्द में कविने 5 पद्यों की रचना की है । द्वितीय अंक में अवतारों के अनुकरण में चैतन्य के षड्भुज स्वरूप का वर्णन,[6] तथा पंचम अंक में यमुना नदी की स्तुति-वर्णन में[7] इसका प्रयोग किया गया है ।

इन्द्रवंशा-[8]

चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/29, 5/13, 30, 8/17, 10/8,

---

1. रसयुगहयैर्न्सौ म्रौस्लौ गो यदा हारिणी तदा । वृत्तरत्नाकर- 3/96.
2. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 4/28.
3. वही. - 5/28.
4. वही. - 8/49.
5. भुजंगप्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भिः, वृत्तरत्नाकर- 3/55.
6. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 2/20, 21, 22, 23,
7. वही. - 5/10.
8. स्यादिन्द्रवंशा ततजै रसंयुतैः । वृत्तरत्नाकर- 3/47.

पृथ्वी-[1]

7/7, 17, 8/9.

रथोद्धता-[2]

8/55.

प्रहर्षिणी-[3]

1/51.

अनुष्टुप-[4]

मात्रिक छन्दों में कवि कर्णपूर को अनुष्टुप छन्द ही प्रिय रहा है । अपने नाटक में कवि ने कुल 42 पद्यों की रचना इस छन्द में की है । प्रथम अंक में कृष्ण-महिमा का वर्णन,[5] तृतीयांक में प्रेम-महत्ता वर्णन,[6] चतुर्थ अंक में सन्यास-ग्रहण के बाद कृष्णचैतन्य नाम की महिमा का वर्णन,[7] षष्ठ अंक में आनन्द-प्रकार का वर्णन,[8] सप्तम अंक में कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति का प्रसंग,[9] में भी इसी अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हमें कवि कर्णपूर के अद्भुत छन्द कौशल का दर्शन होता है । लगभग सभी छन्दों का प्रयोग इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ वर्ण्य विषय के अनुकूल किया गया है ।

---

1. जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरूः, वृत्तरत्नाकर- 3/94.
2. रान्नराविह रथोद्धता लगौ- वृत्तरत्नाकर- 3/38.
3. म्नौ ज्रौ गः त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्- वृत्तरत्नाकर- 3/70.
4. भौ गिति चित्रपदा गः । वृत्तरत्नाकर- 3/12.
5. चैतन्यचन्द्रोदयम्- 1/9, 11,
6. वही. - 3/8-9.
7. वही. - 4/41.
8. वही. - 6/38, 39, 40, 41.
9. वही. - 7/22.

परिशिष्ट

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

{1}	अभिनव भारती-	अभिनव गुप्त, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण- 1960 ई0.
{2}	अलङ्कार कौस्तुभः-	कवि कर्णपूर, वीरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, 1926.
{3}	अष्टाध्यायी-	पाणिनी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस.
{4}	आर्याशतकम्-	....
{5}	आनन्द वृन्दावन चम्पू-	कवि कर्णपूर, पण्डित ओल्ड सीरीज काशी, सुखवर्तिनी टीका सहित, सम्पादक मधुसूदन दास, हुगली- 1919.
{6}	आनन्द वृन्दावन चम्पू-	कवि कर्णपूर, न्यू सीरीज, टीकाकार, श्री वृन्दावन चक्रवर्ती सम्पादक श्री नन्दकिशोर, मथुरा.
{7}	आधुनिक हिन्दी काव्य में- भक्तितत्त्व-	डॉ0 विश्वंभर दयाल अवस्थी, सरस्वती-प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद- 1972.
{8}	उज्जवलनीलमणि-	रूपगोस्वामी, आनन्द चन्द्रिका व लोचन-रोचनी टीका सहित काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस- 1913. ई0.
{9}	औचित्यविचार चर्चा-	क्षेमेन्द्र
{10}	कठोपनिषद्-	गीताप्रेस, गोरखपुर.
{11}	काव्यप्रकाश-	मम्मट, श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ.

§12§	काव्यप्रकाश-	डा० सत्यव्रत सिंह
§13§	काव्यादर्श-	दण्डी, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी.
§14§	काव्यालंकार-	रूद्रट, वसुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1963.
§15§	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-	वामन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी.
§16§	काव्यालङ्कार-	वामन.
§17§	काव्य माला-	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, 1917-ई०.
§18§	काव्यमीमांसा-	राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा.
§19§	काव्यालङ्कार-	भामह, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
§20§	कुवलयानन्द-	अप्पय दीक्षित, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
§21§	काव्यगुणों का शास्त्रीय-विवेचन-	डॉ० शोभाकान्त मिश्र, विहार हिन्दीग्रन्थ अकादमी- 1972.
§22§	काव्यालङ्कार सार संग्रह- एवं लघुवृत्ति की व्याख्या-	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य सम्मेलन
§23§	कृष्ण कौतुक-	परमानन्द, मथुरा, 1965- ई.
§24§	कृष्णाह्निक कौमुदी-	कवि कर्णपूर.
§25§	गौरपदतरंगिणी-	जगद्बन्धु भद्र §सम्पादक§ प्रथम संस्करण
§26§	गौरपदतरंगिणी-	द्वितीय संस्करण, §सम्पादक§ मृणालकान्त घो
§27§	गौरगणोद्देशदीपिका-	कर्णपूर,
§28§	चैतन्यचन्द्रोदयम्-	कर्णपूर, चोखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.
§29§	चैतन्य भागवत्-	वृन्दावन दास.

§31§ चैतन्यचरितामृतम्- कृष्णदास कविराज

§32§ चैतन्यचन्द्रोदय कौमुदी- प्रेमदास

§33§ चैतन्य मंगल- जयानन्द

§34§ चैतन्यदेव- गौडीय मिशन, कलकत्ता 1953 ई0

§35§ चैतन्य मंगल- लोचनदास

§36§ चित्र मीमांसा- अप्पय दीक्षित, काशी संवत्- 1948.

§37§ चमत्कार चन्द्रिका- ....

§38§ दशरूपक- धनिक धनञ्जय, चौखम्भा वाराणसी, 1967ई.

§39§ ध्वन्यालोक- आनन्द वर्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

§40§ ध्वन्यालोक लोचन- अभिनव गुप्त, मोतीलाल बनारसीदास

§41§ नाट्य शास्त्र- भरतमुनि, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
विद्या विलास प्रेस

§42§ नाट्य दर्पण- रामचन्द्र गुणचन्द्र, दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन

§43§ नाटक लक्षण रत्न कोष- सागरनन्दी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी

§44§ नाटक चन्द्रिका- रूपगोस्वामी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज,
वाराणसी

§45§ पारिजात हरणम्- कर्णपूर

§46§ पादकल्प तरू- वैष्णवदास, सम्पादक सतीश चन्द्र राय

§47§ प्रेम विलास- नित्यानन्द दास

§48§ प्रबोध चन्द्रोदय- अश्वघोष

§49§ प्रबोध चन्द्रोदय और-
उसकी हिन्दी परम्परा- डॉ0 सरोज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
1962.

§50§ प्राकृत प्रकाश- ....

{51}	प्राकृत व्याकरण-	....
{52}	प्राकृत विमर्श-	हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1974. ई.
{53}	भक्तिरसायन-	मधुसूदन सरस्वती, तारा मुद्रणालय, वाराणसी 1958.
{54}	भक्ति रत्नाकर-	नरहरि चक्रवर्ती
{55}	भगवद्भक्ति चन्द्रिका-	....
{56}	भाव प्रकाश-	....
{57}	भारत वर्षीय कवि दिगेर-समय निरूपण-	हरिमोहन प्रमाणिक
{58}	भाव प्रकाशन-	....
{59}	बगाली भक्तमाल-	लालदास
{60}	मेदिनी कोष-	....
{61}	रस गंगाधर-	पण्डितराज जगन्नाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
{62}	रस पञ्चाध्यायी एवं-वेणुगीत का भाष्य.	... .
{63}	रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन-	डॉ0 गणपति चन्द्रगुप्त, नेशनल पब्लिशिंग-हाउस दिल्ली- 1971. ई0
{64}	रस विमर्श-	डॉ0 वाटवे
{65}	रस सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण-	डॉ0 आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन पटना.
{66}	वर्ण प्रकाश-	....
{67}	वैष्णवाचारदर्पण-	... .

§68§	वक्रोक्ति जीवित-	कुन्तक
§69§	वृत्तरत्नाकर-	केदारभट्ट, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी.
§70§	वृत्तमाला-	कामरूप संस्कृत संजीवनी सभा द्वारा प्रकाशित, 1854 शकाब्द.
§71§	वृहदोपनिषद्-	....
§72§	वृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका-	....
§73§	श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्-	मुरारिगुप्त, अमृत बाजार पत्रिका ऑफिस- कलकत्ता, तृतीय संस्करण- 1921. ई०
§74§	श्रृङ्गार प्रकाश-	भोज, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
§75§	श्री चैतन्यलीलामृत-	गौडीय मिशन
§76§	ऋग्वेद संहिता-	सायण भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल तिलक, महाराष्ट्र .
§77§	ऋग्वेद-	सुबोध भाष्य,
§78§	स्तवावलि-	रघुनाथ दास, मुर्शिदाबाद, बंगाब्द-1324.
§79§	साहित्य दर्पण-	विश्वनाथ कविराज, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.
§80§	संस्कृत हिन्दी कोष-	....
§81§	सामान्य भाषा विज्ञान-	डॉ० बाबूराज सक्सेना
§82§	सरस्वती कण्ठाभरण-	....
§83§	संस्कृत काव्यशास्त्र-	....
§84§	संस्कृत काव्यशास्त्र को- महिमभट्ट के देयांश का- मूल्याङ्कन.	....

(85) स्वप्न वासवदत्ता- भास, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी.

(86) संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास- एस. के. डे. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना.

(87) संस्कृत साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय

(88) सुवृत्ततिलक- क्षेमेन्द्र- निर्णय सागर प्रेस, बम्बई.

(89) संस्कृतपारसीकपदप्रकाश- काशी गोरक्षा ग्रन्थमाला

(90) संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास- पी. बी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी. 1977.

(91) संस्कृत साहित्य का इतिहास- ए. बी. कीथ, अनुवादक मंगलदेव शास्त्री

(92) हरिभक्ति रसामृत सिन्धु- रूपगोस्वामी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

(93) हिन्दी नाट्य दर्पण- डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, 1961.

(94) हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास- ....

(95) हिन्दी काव्यालङ्कार- चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.

(96) हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य- काव्यादर्श तथा काव्य सिद्धान्त-डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह.

(97) हिन्दीव्यक्ति विवेक- महिमभट्ट, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.

(98) छन्दोऽलङ्कार मञ्जूषा- पण्डित लक्ष्मी कान्त दीक्षित.

(99) कैटलागस कैटलागरम्- ....

(100) ढाका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त चैतन्य-चरितामृतम् की हस्तलिपि. ....

आंग्ल ग्रन्थ-

101. Asiatic Society of Bengal - 1854

102. Early History of Vaishnava faith & movement in Bengal Dr.S.K.Dey, 1942.

103. Chaitanya and his age - Dr.D.C.Sen, Calcutta, 1922

104. Chaitanya and his companion - Dr.D.C.Sen, Calcutta, 1907

105. Chaitanya Movement

106. Classical History of Sanskrit Literature - Krishnamachar Madras, 1937.

107. History of Sanskrit Literature - Dr.S.K.Dey & Das Gupta

108. Vaishnava Literature of medieval Bengal - Dr.D.C.Sen Calcutta, 1917

109. Two Ascriptions Examined, Our Heritage - S.P.Bhattachary 1965

110. Encyclopaedia Britanica, Vol.I